

श्रीसाम्बपञ्चाशिका

Śrīsāmbapañcāśikā

भाषाटीका व राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या सहित

संपादक

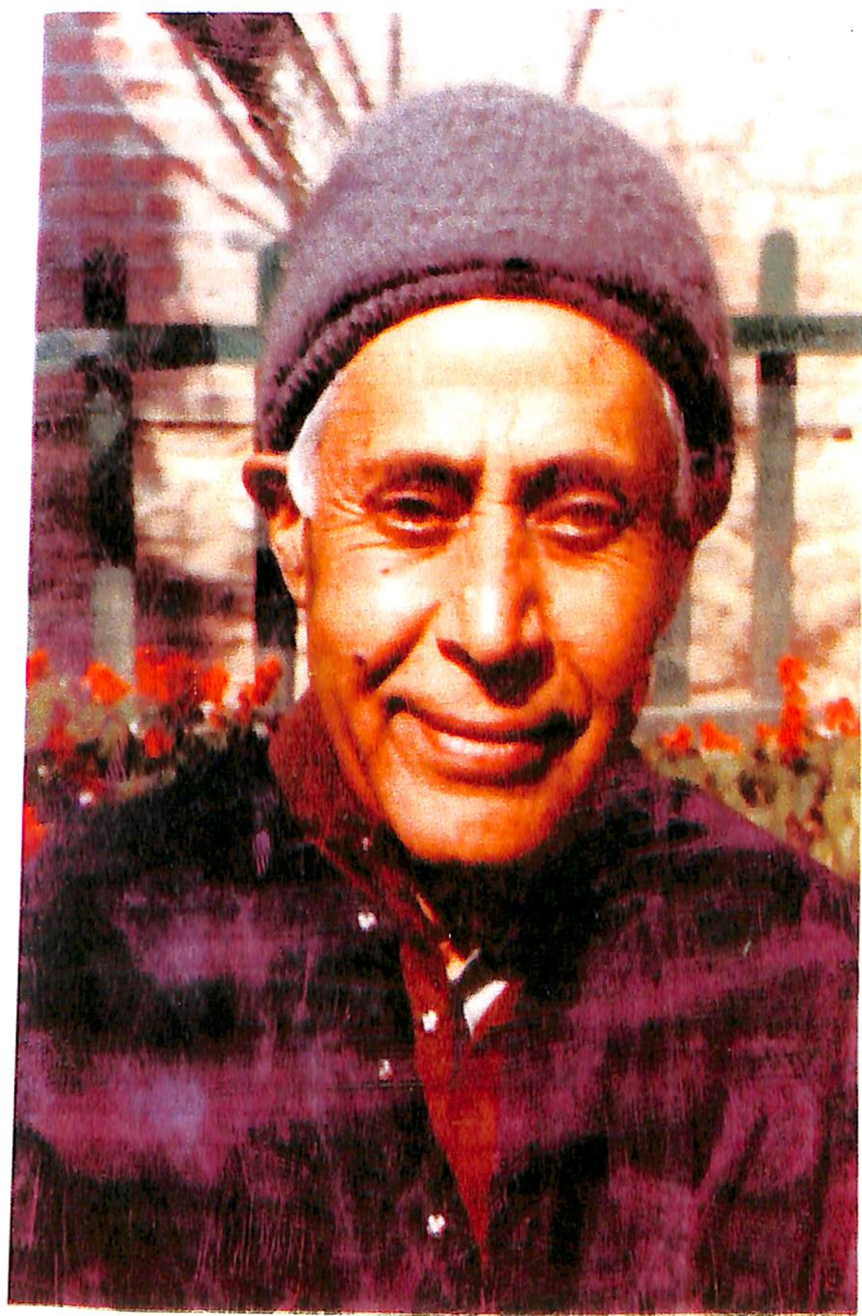
शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

ईश्वर-आश्रम

ईश्वर-पर्वत, गुप्तगंगा, श्रीनगर (काश्मीर)

प्रकाशक

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट





श्रीसाम्बपञ्चाशिका

Śrīsāmbapañcāśikā

भाषाटीका व राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या सहित

संपादक

शैवाचार्य ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज

ईश्वर-आश्रम

ईश्वर-पर्वत, गुप्तगंगा, श्रीनगर (काश्मीर)

प्रकाशक

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

@IBN-ISBN-81-88194-01-8

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

प्रथम प्रकाशन् -- बि०सं० २०००
ई० सं० १९४४

द्वितीय प्रकाशन्-- बि०सं० २०३२
ई० सं० १९७६

तृतीय प्रकाशन्-- बि०सं० १० वैशाक २०६६
ई० सं० २२ अप्रेल २००९

मूल्य ७० रु०

(Rs. 80/-)

दो शब्द

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट ने, लोगों के अनुरोध को सामने रखकर, इस पुस्तक 'श्री साम्बपञ्चाशिका' को तीसरी बार छपवाने का संकल्प किया।

पाठकों की सुविधा के लिये, गुरुमहाराज के अन्वय तथा शब्दार्थ के आधार पर ही, इसे अलग से भी उसी विस्तार क्रम से दर्शाया गया है।

आचार्य क्षेमराज जी की संस्कृत टीका, जो अब इतनी सुलभता से प्राप्त नहीं है, को भी स्थान दिया गया है। उनके मंगलमय उपोद्धात - **"पुष्णन् देवान्...चिद्भानुमेकम्"** को अनुवाद सहित इस में सम्मिलित किया गया है। यह अनुवाद स्वामी जी महाराज के अति प्रिय शिष्य प्रो० नीलकण्ठ जी गुरूटू द्वारा किया गया है, जिसके लिये ट्रस्ट उनका आभारी है।

इस प्रकाशन की छपवाई से पहले का काम गुरु महाराज के कई परम भक्तों तथा शिष्यों ने किया जिसके लिये ट्रस्ट उनका आभारी है।

****

प्राक्कथन

बहुत प्राचीन काल से कश्मीर ऋषि-भूमि और शारदा-पीठ के नामों से प्रसिद्ध है। इस के वे नाम तब भी सार्थक थे और अब भी है। कहीं कहीं इसे भूस्वर्ग भी कहते हैं, किन्तु हमे इस की अपेक्षा पहले दो नाम ही अधिक प्यारे है। इस प्रान्त के निवासी सदा से शारदा अर्थात् सरस्वती के उपासक होते आये हैं। डल झील के तटों के आस पास और अन्य स्थानों पर जो बहुत सुन्दर जगहें हैं वे बडे बडे कश्मीरी ऋषियों, कवियों और तार्किकों के आश्रमों तथा गुरुकुलों से सुशोभित होती थीं। वे लोग वहां प्रकृति देवी के खुले आंगन मे निवास करते थे और इस के तत्त्वों और रहस्यों से पूर्ण रूप में अभिज्ञ हो कर ब्रह्म-ज्ञान में पारंगत हो जाते थे। इस प्रकार जहां वे कालान्तर में परम-पद को प्राप्त कर के अपना व्यक्तिगत लाभ उठाते थे वहां उन्होंने लोकोपकार की बात को भी नहीं भुलाया। वे एक विशाल साहित्य अपने पीछे छोड गये हैं और कहना न होगा कि वह साहित्य अब सारे साहित्यिक संसार की बहुमूल्य और पुनीत सम्पत्ति बन गई है। इस साहित्य के सागर में डुबकी लगा कर न केवल लौकिक ज्ञान और सुख चाहने वाले लोग ही लाभ उठा सकते हैं वरन् पारमार्थिक लाभ और उन्नति के इच्छुक भी इस में गौता लगा कर अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं।

चिरकाल से राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियों के होते रहने से कश्मीर के इतिहास ने जो पलटा खाया उस के फलस्वरूप यहां के उन ऋषि-आश्रमों की संख्या घटने लगी, जिन में वह अलौकिक ज्ञानोपदेश का स्रोत सदा बहा करता था, जिस से असंख्य जिज्ञासुओं की पिपांसा शान्त हो जाती थी। *जो स्थान पहले ऋषियों के निवासस्थान और पारमार्थिक ज्ञान के केन्द्र हुआ करते थे वे अब

विश्राम-स्थल और सैर करने के स्थान बनने लगे। अब लोग वहां आध्यात्मिक लाभ के लिये नहीं बल्कि लौकिक सुख की प्राप्ति की इच्छा से जाने लगे।

ऐसे ही सुन्दर स्थानों में से ईश्वर (इशबर) नामक एक पार्वतीय स्थान भी है जो डल झील के तट के समीप है। सौभाग्य से वहां दो सुन्दर आश्रम बनाये गये हैं । एक में श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी (ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी) निवास करते हैं और दूसरे में उन की शिष्या ब्रह्मवादिनी शारिका देवी जी रहती हैं। इन दोनों महात्माओं का जन्म कश्मीरी पंडितों के प्रतिष्ठित और समृद्धिशाली घरानों में हुआ है और दोनों को सुख की सामग्रियां उपलब्ध थीं। दोनों के माता-पिता ने इन्हें सांसारिक सुखों के उपभोग की ओर आकृष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया, पर भगवान् बुद्ध के माता-पिता की भान्ति उन का प्रयास निष्फल रहा। दोनों महात्माओं ने बाल्यावस्था में ही संसारिक संपत्तियों का परित्याग किया और सच्चे तथा पूर्ण वैराग्य का आश्रय ले कर नगर से बाहिर अपने आश्रमों मे रहने लगे। स्वामी ईश्वर स्वरूप जी के आश्रम में समय समय पर होने वाली धर्म-चर्चा और शास्त्र-अध्ययन को देख कर हमें प्राचीन ऋषि-आश्रमों की स्मृति हो आती है। भगवती शारिका देवी जी के आश्रम में हमें ललेश्वरी और रूपभवानी आदि के आश्रमों का आभास मिलता है। इस प्रकार प्राचीन मर्यादा का पालन करने और उस को स्थिर तथा सुरक्षित रखने का मानो नये सिरे से श्रीगणेश हुआ है।

कुछ समय हुआ स्वामी ईश्वर स्वरूप जी ने अभिनवगुप्त-कृत टीका सहित श्रीमद्भगवद्गीता का संपादन किया और उस को प्रकाशित किया। साहित्यिक जगत ने उस ग्रंथ का बडा आदर किया। अब अपने शिष्यों विशेषतः अपनी मुख्य शिष्या ब्रह्मवादिनी शारिका देवी जी के सविनय

अनुरोध और प्रार्थना करने पर तथा लोकोपकार के विचार से इन्होंने 'सांबपंचाशिका' ऐसी सारगर्भित पुस्तक का बडे उत्तम, सरल और उपयोगी ढंग से संपादन किया है। इसी पुस्तक को प्रकाशित कर के पाठकों की भेंट किया जा रहा है। इस का भाषा-टीका सहित एसा उत्त्म संस्करण पहले कहीं नहीं छपा है। संपादक महोदय जहां एक उच्च कोटि के योगी और महात्मा हैं वहां ये अपने अगाध पांडित्य, अध्ययन और शास्त्र-ज्ञान आदि के लिए भी यशस्वी बन चुके हैं। जिन लोगों को इन के श्रीचरणों में कुछ क्षणों के लिए भी बैठ कर लाभ उठाने का अवसर मिलता है वे इन बातों को भली भान्ति जानते हैं। यही कारण है कि 'साम्बपंचाशिका' का यह संस्करण बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है।

इस संस्करण की भाषा-टीका आदि विशेषताओं की उपयोगिता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। पाठक इस का स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पाद-टिप्पणियां तो विशेष रूप में महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं। सामान्य योग्यता का मनुष्य भी इन की सहायता से मूलग्रंथ में कही गई सभी गूढ बातों को सुगमता से समझ सकता है। आशा है कि पाठक इस से बहुत लाभ उठायेंगें और संपादक महोदय के प्रयास को सफल बनायेंगे। इस प्रकार जिस उद्देश्य से यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है उस की पूर्ति होगी।

जिया लाल कौल (प्रोफेसर)

(१९४४)

---

*पाठको को यह न समझना चाहिए कि यहां ऋषियों ओर उन के आश्रमों का सर्वथा अभाव होने लगा है। इस 'घोर कलि-काल' में भी श्रीनगर में कई उत्तम ऋषि-आश्रम हैं, जिन में से दो विशेषतः उल्लेखनीय हैं - एक श्री स्वामी श्रीधर जुव का, जो वेदान्त-विषय शास्त्रों का प्रतिदिन व्याख्यान करते हैं और दूसरा श्री स्वामी महताब जुव का, जहां शैव-शास्त्रों का पठन-पाठन होता है। इन दोनों आश्रमों से बडा धर्म-प्रचार और लोकोपकार होता है।

भूमिका

'सांबपंचाशिका' आध्यात्मिक विषय का एक बहुत ही प्राचीन, महत्वपूर्ण और सारगर्भित ग्रंथ है। इसमें चित्-सूर्य की बहुत सुन्दर रूप में स्तुति की गई है और उसकी महिमा का बखान किया गया है। कुछ श्लोकों में बडे रोचक, अनूठे और विलक्षण रूप में उद्धार के लिए उस से विनती की गई हैं। इसके रचयिता भगवान् श्रीकृष्ण के सुपुत्र श्री साम्ब जी हैं। यह बात न केवल पुस्तक के नाम से विदित होती है बल्कि इस की पुष्टि कई अन्य बातों से भी होती है। साम्बपञ्चाशिका का जो छपा हुआ संस्करण इस समय मिलता है उसके पहले पृष्ठ पर दी गई पाद-टिप्पणी में संपादकों ने वाराह-पुराण से दो श्लोक इसी बात को सिद्ध करने के लिए उद्धृत किये हैं। पाठकों की जानकारी के लिए वे नीचे दिये जाते हैं :-

'ततः साम्बो महाबाहुः कृष्णाज्ञप्तो ययौ पुरीम् ।
मथुरां मुक्तिफलदां रवेराराधनोत्सुकः ।।'

....

'साम्ब पंचाशकैः श्लोकैर्वेदगुह्यपदाक्षरैः ।
यत्स्तुतोऽहं त्वया वीर तेन तुष्टोऽस्मि ते सदा ।।'

(वाराह पुराण, १७१ अध्याय)

इन श्लोकों से प्रतीत होता है कि साम्ब जी ने श्रीकृष्ण जी के कहने पर 'साम्बपंचाशिका' नामक सूर्य-देवता की स्तुति रची। इसी पुस्तक के दूसरे पृष्ठ पर पहले श्लोक की अवतरणिका में और छब्बीसवें पृष्ठ पर बावनवें श्लोक की टीका में टीकाकार राजानक

क्षेमराज ने भी लिखा है कि भगवान् कृष्ण के पुत्र सांब जी ही इस ग्रंथ के रचयिता हैं।

श्री सांब जी ने किस उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना की, उन्होंने कोई और ग्रंथ भी लिखा या नहीं, इन बातों का निश्चित रूप में कुछ पता नहीं चलता। संस्कृत के अन्य प्राचीन कवियों की भान्ति उन्हों ने अपने विषय में कहीं कुछ नही कहा है। कोई ऐसी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है जो इन बातों पर प्रकाश डाल सके। किन्तु इस संबंध मे जनश्रुतियों के आधार पर जो कथा सुनी जाती है वह यहां लिखी जाती है। एक बार साम्ब जी को उदर का रोग हुआ। जब सामान्य रीति से चिकित्सा करने पर उनका रोग ठीक न हुआ तो अपने पिता भगवान् कृष्ण ने उन्हें सूर्य की स्तुति करने को कहा। इस पर साम्ब जी ने भौतिक सूर्य को छोड कर चित्-सूर्य की स्तुति करने का निश्चय किया। उनके इसी निश्चय के फल-स्वरूप 'साम्बपंचाशिका' का आविर्भाव हुआ। कहा जाता है कि इस पुस्तक के लिखने पर उनका रोग ठीक हुआ।

'साम्बपंचाशिका' ऐसे गूढ विषय के ग्रंथ का समझना सर्व-साधारण के लिए कठिन है। सौभाग्य से कश्मीर के प्रसिद्ध लेखक और टीकाकार राजानक श्री क्षेमराज ने इस पर एक उत्तम और विस्तृत टीका संस्कृत में लिखी है। इस समय इस पुस्तक का जो छपा हुआ संस्करण उपलब्ध है उसमें यही टीका दी गई है। किन्तु भाषा-टीका सहित इसका कोई संस्करण अब तक नहीं छपा

है, इस लिए इसके प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः यह पाठकों की भेंट किया जाता है।

पूछा जा सकता है कि संस्कृत टीका के होते हुए हिन्दी टीका की क्या आवश्यकता थी। हमारा कहना है कि संस्कृत-टीकाओं को समझ सकने वाले तथा संस्कृत जानने वाले लोगों की संख्या ही आजकल कितनी है। इसलिए प्राचीन संस्कृत ग्रंथो के अनुवाद किसी ऐसी देश-भाषा में प्रकाशित करने से लोगों का उपकार हो सकता है जिसे वे अधिक से अधिक संख्या में समझ सकें। कुछ ऐसे ग्रंथो के अंग्रेज़ी अनुवाद सहित संस्करण भी निकल चुके हैं, पर अंग्रेज़ी जैसी क्लिष्ट भाषा का प्रयोग और समझना थोड़े पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित है। दूसरे विदेशी भाषा होने के कारण यह हमारे काम की चीज़ नही हो सकती। इधर हिन्दी सारे भारत में जनता की बोल-चाल तथा व्यवहार की भाषा के रूप में दिन प्रति दिन लोकप्रिय होती जाती है और इसके समझने वालों की संख्या अन्य सभी देश-भाषाओं के समझने वोलों से अधिक हैं। इस प्रकार से हिन्दी ही संस्कृत ग्रन्थों के समझने में सब से उत्तम माध्यम का काम दे सकती है। यदि हम चाहते हैं कि संस्कृत पुस्तकों और शास्त्रों का अध्ययन अधिक से अधिक लोग कर सकें तो इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि संस्कृत साहित्य रूपी बहुमूल्य कोष का द्वार सर्व-साधारण के लिए खुला रखने की चेष्टा की जाय और हिन्दी-टीका रूपिणी कुंजी से इसे खोल कर लाभ इठाने का उसे अवसर दिया जाय। कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

ऐसी देश की बहुत सी संस्थाओं ने इस बात के महत्व को समझ लिया है और वे उपयोगी तथा धार्मिक ग्रंथो के हिन्दी-टीका सहित संस्करण प्रकाशित करने लगी है, जिन से जनता बड़ा लाभ उठा रही है। इसी कारण से हिंदी-टीका सहित यह पुस्तक लोकोपकार के उद्देश्य से प्रकाशित की जाती है।

जिस ढंग पर इस पुस्तक का संपादन किया गया है उसके संबंध में एक दो शब्द कहने शेष रह जाते हैं। सब से पहले मूल ग्रंथ का श्लोक दिया गया हैं। उसके बाद उसका अन्वय दिया गया है, जिस में संधिच्छेद और समास शब्दों का पदच्छेद आदि दिखाये गये हैं। अन्वय समझाने के लिए कुछ ऐसे शब्दों का कहीं कहीं समावेश किया गया है जो मूल श्लोक में नही है। ऐसे शब्दों को कोष्ठकों के बीच मे रखा गया है। संस्कृतके विद्यार्थियों को सब से बड़ी कठिनाई पदच्छेद करने में होती है, अतः सामान्य योग्यता के पाठकों को इस से बड़ी सुगमता होगी। अन्वय के नीचे श्लोक का हिन्दी अनुवाद दिया गया है। इस अनुवाद में वाक्यों की रचना का क्रम श्लोक के अन्वय के अनुसार ही यथासंभव रखा गया है। शब्दार्थ के अतिरिक्त श्लोक के भावार्थ अर्थात् आशय को स्पष्ट तथा पूर्ण रूप में व्यक्त करने के लिए अथवा वाक्य की पूर्ति के लिए कहीं कहीं जिन वाक्यों, वाक्यांशों या शब्दों के जोड़ने की आवश्यकता पड़ी है उनको कोष्ठकों मे रखा गया है। इस प्रकार पाठक को प्रत्येक श्लोक के सभी शब्दों के अर्थों और उसके पूर्ण

आशय को समझने में सुबीता रहेगा। श्लोकों के अंत में पाद-टिप्पणियां दी गई हैं, जिन में वे बातें संक्षित और सरल भाषा में कही गई हैं, जिन का जानना कवि के आशय को समझने के लिए आवश्यक तथा लाभदायक है और जो अनुवाद में नहीं आ सकीं। मूल श्लोक में कहीं जो पारिभाषिक शब्द आये है अथवा योग-क्रिया की जिन विशेष बातों की ओर संकेत किया गया है, उनकी भी संक्षेप में व्याख्या की गई है।

कहा जा सकता है कि इस पुस्तक की हिन्दी-टीका में उन सभी बातों का समावेश नहीं हुआ है जो श्री क्षेमराज ने अपनी टीका में लिखी हैं। इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त होगा कि गूढ़ आशय के साथ संबंध रखने वाली कुछ बातें सर्व-साधारण के समझ से बाहिर होने के कारण नहीं कही गई हैं। इनमें से कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको प्रत्यक्ष या व्यक्तिगत अनूभव द्वारा ही समझा जा सकता है। आशा की जाती है कि अनुवाद और पाद-टिप्पणियों में जो कुछ कहा गया है वह सामान्य रूप में पाठकों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त होगा। इस से अधिक जानने की जिन्हें इच्छा हो वे गुरु-मुख से जान सकते हैं।

इस पुस्तक के लिखने, प्रूफ-संशोधन करने तथा प्रकाशित करने में पं० जिया लाल कौल एम० ए०, प्रभाकर और श्रीमती प्रभा देवी मट्टू, प्रभाकर (सुपुत्री पं० जिया लाल सोपोरी, भूतपूर्व

इंजिनियर और धर्मपत्नी पं० मोती लाल जी मट्टू, बी० ए०) ने कई तरह से मेरी सहायता की है। अतः ये दोनों मेरे धन्यवाद के पात्र है। ईश्वर करे कि जिस संसार-यात्रा पर श्रीमती प्रभा देवी जी ने हाल ही में पदार्पण किया है उस मे वह सफल हो। जिया लाल जी के लिए मेरे विचार में यही अच्छा होगा कि वे संसारिक सुखों को तुच्छ और नश्वर समझ कर उन्हें तिलांजलि देने का प्रयत्न क़रें और ईश्वर पर्वत या किसी दूसरे एकान्त स्थान पर छोटी सी कुटिया बना कर उसमें जब कभी अवसर मिले, ईश्वर-चिन्तन करें। मैं समझता हूं कि यही आशीर्वाद इन दोनों के लिए उपयुक्त है और इन्हें पा कर ये अपने काम का पुरस्कार पायेंगे।

शिवभक्तों का अनुचर,
लक्ष्मण

ईश्वर-आश्रम,
ईश्वर पर्वत,
गुप्तगंगा, श्रीनगर

पुष्णन् देवानमृतविसरैरिन्दुमास्त्राव्य सम्यग्-
भाभिः स्वाभी रसयति रसं यः परं नित्यमेव।
क्षीणं क्षीणं पुनरपि च तं पूरयत्येवमीदृग्-
दोलालीलोल्लसितहृदयं नौमि चिद्भानुमेकम्।।

(अनुवाद)

(क) चित्सूर्य अर्थात् स्वयंसिद्ध चित्-शक्ति की दृष्टि से जो आन्तरिक चन्द्रमा को पिघला कर, उस आन्तरिक चन्द्रमारूपी अमृतसागर से टपकाये हुए अमृत के झरने से 'देवताओं' अर्थात् विभिन्न रूपों में कार्यनिरत पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और तीन अन्तःकरण (मन्, बुद्धि, अहंकार) इन तेरह इन्द्रियशक्तियों को पुष्टि प्रदान करता हुआ, निजी सर्वोत्कृष्ट चित्-प्रकाश के किरणजाल की रसवत्ता का चर्वण प्रतिक्षण करवाता रहता है, बार बार उस रसमयता के क्षीण होते रहने की अवस्था में फिर उसकी पूर्ति करता रहता है और इस प्रकार (प्राणापान के ऊर्ध्वगमन एवं अधोगमन के) झूले की जैसी क्रीडा के द्वारा 'हृदय' अर्थात् मध्यनाडीरूपी शक्तिकेन्द्र को विकसित करता रहता है उस एकले चित्-सूर्यदेव को मैं प्रणाम करता हूँ अर्थात् आन्तरिक विमर्श के रूप में एकाकार हो जाता हूँ।

(ख) **बाहरी स्थूल सूर्य की दृष्टि से**

जो भगवान सूर्य परिपूर्ण चन्द्रमा की एक-एक कला के अमृतनिर्झर को टपका कर, इन्द्र इत्यादि देवताओं को पुष्टि प्रदान करता हुआ, समूची जगती को निजी किरणजाल की रसवता से

निरन्तर सराबोर करता है। सारे चन्द्रमण्डलरूपी रससागर के क्षीण हो जाने पर फिर चन्द्रमण्डल को पूरा कर देता है और इस प्रकार झूले की क्रीडा के द्वारा प्रत्येक प्राणी के हृदय को उल्लासपूर्ण बना देता है, उस प्रकाश के पिण्ड को मैं प्रणाम करता हूँ।

(राजानकक्षेमराजकृत टीका)

एतदावेशवैवश्य प्रोन्मिषद्धषणा वयम्।
विमृशामो मनाक्छ्रीमत्साम्बपञ्चाशिकास्तुतिम्।।
सोऽयं परामृतरसो रसज्ञैरिह रस्यताम्।
आयुष्याज्यामृतस्पर्शः शतपद्या हि शान्तये।।
समस्तागममहाम्नायरहस्यविन् महायोगिसहस्त्रसंप्रदायपूर्णः श्रीवासुदेवस्य भगवतः पुत्रः श्रीसाम्बः स्वात्मविवस्वत्स्तुतिं जगतोऽनुग्रहाय वक्तुम् उपक्रमतेः --

(अनुवाद)

अपने रोम रोम में इस चिद्धानु (परमहिमामयी चित्-देवी) का आवेश होने के फलस्वरूप हमारी प्रज्ञा परवशता के बन्धन से छूट गई है और इसमें अनोखा निखार आया है, अतः हम श्री साम्ब-पञ्चाशिकामयी स्तोत्र के रहस्य को थोडा सा विमर्श कर रहे है।

मेरी शुभकामना यह है कि लोकोत्तर आनन्दमयता के रसिक जन 'शतपदी' अर्थात् सौ सौ चरणों से अन्धाधुन्ध आगे बढती हुई माया को शान्त करने के लिए इस (साम्बपञ्चाशिकारूपी) परम अमृतरस का आस्वाद लेते रहें। निश्चय से (किसी यज्ञादि में अभिमन्त्रित) आयुवर्धक घृतरूपी अमृत का स्पर्शमात्र ही 'शतपदी' अर्थात् कनखजूरे को शान्त करने के लिए पर्याप्त होता है।

श्रीसाम्ब, जोकि सारे आगमशास्त्रों (शैव आगमों) और महामहिमाशाली आम्नायों (वेद ग्रन्थों) में वर्णित रहस्यों में निष्णात, हज़ारों पहुंचे हुए योगिजनों के द्वारा स्वीकृत सम्प्रदायों के मर्मज्ञ और भगवान श्रीवासुदेव के पुत्र थे, सारे जगत पर अनुग्रह करने की अभिलाषा से अपने आत्मस्वरूप चित्-सूर्य की स्तुति का गान आरम्भ कर रहे हैं।

****

***शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपते-**
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य +त्रयीमण्डलम्।
भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततमः सप्तस्वराश्वैर्विय-
द्विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव नमस्तस्मै परब्रह्मणे।।१।।

(अन्वय)

तस्मै परब्रह्मणे नमः (अस्तु), शब्द-अर्थत्व-विवर्तमान-परम-ज्योतिः-रुचः यस्य गोपतेः त्रयी-मण्डलं भास्वत्-वर्ण-पद-क्रम-ईरित-तमः, सप्त-स्वर-अश्वैः वियत्-विद्या-स्यन्दनम् उन्नयन् इव उद्गीथः पुरः अरुणतया अभि-उदितः (अस्ति)।।१।।

(शब्दार्थ)

तस्मै = उस	**रुचः** = कांति से
परब्रह्मणे = पर-ब्रह्म परमात्मा को	**(युक्तः)** = (युक्त है)।
	यस्य = जिस का
नमः = नमस्कार	**त्रयी-** } = वेद त्रयी
(अस्तु) = (हो)	**मण्डलं** } रूपी मण्डल
(यः) = (जो)	**भास्वत्-**] = सुन्दर वर्णों
शब्द = शब्दों (के)	**वर्ण-पद-**] और पदों
अर्थत्व = अर्थों से	**क्रम-**] रूपिणी
विवर्तमान = प्रवर्तित हुई	**ईरित-**] चमकीली किरणों
परम-ज्योतिः= परम ज्योती की	**तमः,**] के क्रम से,

गोपतेः= तमोगुण रूपी	**[स्यन्दनं उन्नयन्]** चलाता है
अंधकार को नष्ट	**(च)** = (और)
करता है,	**उद्गीथः** = ओऽम (ॐ) स्वरूप
सप्त- } = जो सात स्वरों	**अरुणतया** = अरुण के
स्वर- } रूपी घोडों से चित्	**पुरः }** = प्रकट होने
अश्वैः } रूपी आकाश में	**अभि- }** पर उदय
वियत्-] = विद्या रूपी	**उदितः }** करता
विद्या-] रथ को	**(अस्ति)** = (है)।।१।।

(अनुवाद)

उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार हो, जो (परब्रह्म रूपी) सूर्य शब्दों तथा (उन के) अर्थों से प्रवर्तित हुई परम ज्योति की कान्ति से युक्त है, जिस का वेद-त्रयी रूपी मण्डल सुन्दर वर्णों और पदों रूपिणी चमकीली किरणों के क्रम से तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करता है, जो सात स्वरों रूपी घोडों से चित्

---

*१.पौराणिक कथाओं में सूर्य देवता का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वह एक रथ में बैठ कर आकाश में विचरण करता है। अरुण नाम का सारथि और हरे रंग के सात घोड़े उस रथ को चलाते हैं। कवि ने इस श्लोक में बाह्य सूर्य के इसी रूप के आधार पर आन्तरिक सूर्य का रूप अंकित किया है।

+१.ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को वेद-त्रयी कहते हैं।

रूपी आकाश में विद्या रूपी रथ को चलाता है और ओऽम (ॐ) - स्वरूप अरुण के प्रकट होने पर उदय करता है ।।१।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

तस्मै परस्मै सर्वोत्कृष्टाय, विश्वपूरणादिकर्त्रे च। अत एव च अभाव-शान्त ब्रह्म-चित्रब्रह्मादि-सर्वब्रह्मक्रोडीकर्त्रे ब्रह्मणे बृहते व्यापकाय, बृंहणाय च, विश्वकर्त्रे चिदात्मने नमः। देहादि-प्रमातृताप्रशमनेन तदेव आविशामि-इत्यर्थः। यस्य ब्रह्मणः सम्बन्धि, ऊर्ध्वम् अशेषविश्वाभेदात्मतया उत्कृष्टतया गीयते विमृश्यत इति-उद्गीथः प्रथमोन्मेषात्म शब्दब्रह्म रूपा प्रणवो ध्वनिः। देवतास्तुति-कर्मप्रधान साम-ऋक्-यजुर्वेदाख्या त्रय्येव शाखाप्रपञ्चक्रोडीकृतसमस्ताम्नायवाक्यैकवाक्यताव्याप्त्या मण्डलम्। अतश्चैतत्सर्वासां विद्यानां मन्त्रशास्त्रविज्ञानानां स्यन्दनमास्पदं प्रसवकारणञ्च, कर्मभूतं वियत् पराकाशम् उन्नयन्नुल्लासयन् तन्मयत्वमापादयन्निव, पुरः प्रथमम् अरुणतया अतिदीप्तत्वेन उदितः स्वयमुन्मिषतः। वियन्मयस्याप्यस्य दीप्तस्य, उन्मेषावष्टम्भपुरःसरं तथा स्फुरणाद् उन्नयन्निवेत्युक्तम्। एतच्च त्रयीमण्डलं भास्वद्भिः प्रोद्गीथारुणिम्ना स्फुरितैः, वर्णपद क्रमैरक्षरवाचकतदानुपूर्वीभिः, ईरितं ध्वस्तं तमोऽज्ञानं येन तादृक् -- उच्चारणपदार्थवाक्यार्थप्रतिपत्तिषु परमचिदभेद-विश्रान्तिदमित्यर्थः।

केन वियदुन्नयन्? सप्त ये स्वराः स्वयं राजमाना विश्वाक्षेपिणो वर्णाः पश्यन्त्यादिप्रवर्तनप्राणितकल्पाः, षड्जादिध्वनिविमर्शाः

त एव सर्वत्र आशुसञ्चारित्वाद् अश्वास्तैः।
यस्य ब्रह्मणः कीदृशस्य:? गोपतेः परादिवाक्प्रभोर्मरीचिचक्रेश्वरस्य च। अत एव शब्दार्थत्वेन नानालौकिकेतरशब्द-तदर्थतत्सम्बन्धैर्विचित्रतया वर्तमानं, स्वातन्त्र्यादेतद्वैचित्र्याभासात्म यत्परं ज्योतिः शाक्तं वीर्यं तेन च रुग् दीप्तिर्यस्य। बाह्यस्यापि सूर्यस्य :-

'ज्ञानशक्तिः परा ह्येषा तपत्यादित्यविग्रहा।'

(स्व० तं० १०,४९९)

इत्याम्नायनीत्या परब्रह्मप्रतिबिम्बकल्पस्य प्रणवव्याप्तिकोऽरुणः पूर्वमुदितः। त्रयीव्याप्तिकं मण्डलम्, इतरविद्याव्याप्तिकं स्यन्दनं च कर्म। भास्वद्वर्णैः पदक्रमैर् देदीप्यमानचरणविन्यासैर ईरिततमसो ये सप्तस्वरव्याप्तिका अश्वास्तैर्वियद् उत्क्षिपति। अथ च विचित्रवाच्यवाचकात्मजगद्वृत्तेश्चिच्चक्रेश्वरस्य उद्गीथः शक्त्यङ्कु- रोन्मेषो दीप्तः। ब्रह्मविष्णु-रुद्र, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, ब्रह्म-मूल-मायाण्डादि त्रयीमण्डलम्। वियद् व्यापकम्। 'वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना।' इत्याम्नायनिरुक्तोन्मनाख्या विद्यास्यन्दनम्। स्वरैर्विचित्रैर्निभिर् उन्नयन्निव प्रथमं उदितः। किं कृत्वा? भास्वतां वर्णानाम् अकारादिमात्राणं, पदानां बिन्द्वादिविश्रान्तीनां क्रमेण परिपाट्या ईरितं तमः समानान्तं पाशजालं यत्र।।१।।

एवं सामान्यव्याप्त्या परमार्कं स्तुत्त्वा देहस्थमध्यनाडीव्याप्त्या स्तौति--

ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो
***वाणी यस्मात्प्रसरति परा शब्दतन्मात्रगर्भा।**
प्राणापानौ वहति च समौ **यो मिथो ग्राससक्तौ
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये।।२।।

(अन्वय)

(अहं) देहस्थं तम् आद्यं परम-आदित्यं सपदि प्रपद्ये, यः प्रति-प्राणि ओम्-इति शब्दः अन्तर् नियतं नदति, यस्मात् शब्दतन्मात्र-गर्भा परा वाणी प्रसरति, यः च मिथः ग्रास-सक्तौ प्राणापानौ समौ वहति।।२।।

(शब्दार्थ)

(अहं) = (मैं)	**प्रपद्ये** = प्रणाम् करता हूँ
देहस्थं = शरीर में ठहरे हुए	**यः** = जो
तम् = उस	**प्रति-प्राणि** = प्रत्येक प्राणी के
आद्यं = ज्येष्ठ	**अन्तः** = हृदय में
(तथा) = (और)	**ओम-इति शब्दः**=ॐ शब्द का
परम्- } = उत्तम	**नियतं** = निरन्तर
आदित्यं } सूर्य को	**नदति** = उच्चारण करता है,
सपदि = शीघ्र ही	**यस्मात्** = जिस से

शब्द- } = शब्द-तन्मात्र-
तन्मात्र- } गर्भित (पश्यन्ती
गर्भा } नाम वाली)
परा वाणी = दूसरी वाणी
प्रप्रसरति = प्रसरित होती है।
च = और
यः = जो

मिथः- } = एक दूसरे
ग्रास- } का ग्रास करने
सक्तौ } में लगे हुये
प्राणापानौ = प्राण और अपान को
समौ = साम्य-भाव से
वहति=धारण करता है।।२।।

(अनुवाद)

मैं शरीर में ठहरे हुए उस ज्येष्ठ और उत्तम सूर्य को शीघ्र ही प्रणाम करता हूं, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में 'ओम्' शब्द का निरन्तर उच्चारण करता है, जिस से शब्द-तन्मात्र-गर्भित (पश्यन्ती नाम वाली) दूसरी वाणी प्रसरित होती है और जो एक दूसरे का ग्रास करने में लगे हुए प्राण और अपान को साम्य-भाव से धारण करता है।।२।।

२*शास्त्रों में वाणियां चार प्रकार की कही गई हैं - परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। 'पश्यन्ती' वाणी हृदयाकाश में निर्विकल्प-भाव से स्वयं उच्चरित होती है। उस का अनुभव तो योगी-जन ही कर सकते हैं।

२**ईश्वर के अनुग्रह से ही, प्राण और अपान के बीच वाले आकाश में विमर्श करने से, वे प्राण और अपान मध्य-नाड़ी में स्वयं ही लय हो जाते हैं। तदनन्तर ही योगी को उस परम-आदित्य अर्थात् चित् रूपी सूर्य की स्थिति का अनुभव होता है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

तं परमादित्यं परब्रह्मस्वरूपम् एव देहस्थितं मध्यनाडीगतप्राणब्रह्मनिविष्टम् आद्यं विश्वचित्रभित्तिभूतं सपदि प्रपद्ये अभिसन्ध्यवधानेन समाविशामि। य ओमिति शब्दः क्रोडीकृताशेषशब्दनात्मनादरूपो महाप्रणवः प्रतिप्राणि सर्वभूतेषु नियतम् अविच्छिन्नप्रवाहेण अन्तर्नदति परावागात्मस्वरूपं विमृशन् स्थितः। यस्माच्च शब्दतन्मात्रगर्भा आसूत्रितक्रमा आदिक्षान्त-शब्द-सामान्यमात्रा अविभाग-ज्योतिर्मयी परा-द्वितीया वाणी पश्यन्ती प्रसरत्युन्मिषति। यश्च मिथो ग्रासस्क्तौ अन्योन्यकवलनपरौ समौ समानभूमिकारूढौ प्राणापाणौ वहति -- उदानवह्नयात्मनिजमहाज्योतिर्मयौ करोति।।२।।

एवं महाव्याप्त्या सूक्ष्म-व्याप्त्या चानवच्छिन्नं, मध्यधामस्थं च चिदर्कं नुत्वा प्रपञ्च व्याप्त्यापि स्तौति :-

यस्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणपाण्यङ्घ्रिवाणी-
पायूपस्थस्थितिरपि मनोबुद्ध्यहंकारमूर्तिः।
तिष्ठत्यन्तर्बहिरपि जगद्भासयन्द्वादशात्मा*
मार्तण्डं तं सकलकरणाधारमेकं प्रपद्ये।।३।।

(अन्वय)

(अहं) तम् एकं सकल - करण - आधारं मार्तण्डं प्रपद्ये, यः बहिर् त्वक्-चक्षुः-श्रवण-रसना-घ्राण-पाणि-अङ्घ्रि-वाणी-पायु-उपस्थ-स्थितिः अपि, अन्तर् मनः-बुद्धि-अहंकार-मूर्तिः-(इत्येवं) द्वादश-आत्मा (सन्) जगत् भासयन् तिष्ठति ।।३।।

(शब्दार्थ)

(अहं) = (मैं)	**सकल-** } = सभी (अर्थात्)
तम् = उस	**करण-** } (बारह) इन्द्रियों
एकं = अद्वितीय (चित् रूपी)	**आधारम्** } का आधार है,
मार्तण्डं = सूर्य को	**यः** = जो
प्रपद्ये = प्रणाम करता हूँ	**बहिर** = बाहिर से
(यः) = जो	**त्वक्** = त्वचा

चक्षु = आंख	**अन्तर** = भीतर से
श्रवण = कान	**मनः-** } = मन, बुद्धि और
रसना = जिह्वा	**बुद्धि-** } अहंकार की
घ्राण = नाक	**अहंकार-**} मूर्ति को धारण
पाणि = हाथ	**मूर्तिः** } किये हुए है
अंघ्रि = चरण	**(इत्येवं)** =(और जो इसप्रकार)
वाणी = वाणी	**द्वादश-**} = बारह रूपों
पायु = पायु	**आत्मा** } वाला होकर
उपस्थ = उपस्थ	**जगत्** = जगत को
स्थितिः = (में) स्थित होकर	**भासयन्** = चमकाते हुये
अपि = भी	**तिष्ठति** = ठहरा हुआ है।।३।।

(अनुवाद)

मैं उस अद्वितीय (चित् रूपी) सूर्य को प्रणाम करता हूँ, जो सभी (अर्थात् बारह) इन्द्रियों का आधार है, जो बाहिर से त्वचा, आंख, कान, जिह्वा, नाक, हाथ, चरण, वाणी, पायु और उपस्थ में स्थित हो कर भी भीतर से मन, बुद्धि और अहंकार की मूर्ति को

३*पौराणिक कथा के अनुसार बारह आदित्यों अर्थात् बारह मासों को सूचित करने वाले बाह्य सूर्य के बारह रूपों का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार चित्-सूर्य के भी बारह रूप कहे गये हैं, जो त्वचा आदि हैं। चूंकि मन और बुद्धि का एक दूसरे के साथ बड़ा अकाट्य संबन्ध है, या यूं कहा जाय कि दोनों एक ही वस्तु के दो नाम हैं, इसलिये इन दोनों को एक ही इन्द्रिय अर्थात् एक ही रूप माना जा सकता है। अतः ऊपर कहे गये इन सब रूपों की संख्या बारह ही है और तेरह नही है।

धारण किये हुए है और जो (इस प्रकार) बारह रूपों वाला हो कर जगत को चमकाते हूए ठहरा हूआ है।।३।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

मृतानां वेद्यैकरूपतया शवप्रायाणाम्, अण्डानां देहप्राणादिपिण्डानाम्, अयमनुप्राणको मार्तण्डश्चिद्भानुस् तमेकमद्वितीयमपि, प्रपञ्चव्याप्त्या सकलानां प्रमातृणां, सकलानि करणानि च त्रयोदश करणानि च, तेषाम् आधारं अनुप्राणकम् अविभिन्नमाश्रयं, प्रपद्ये। यस् त्वगाद्यहङ्कारान्तस्वीकृतत्रयोदशेन्द्रियमूर्तिः। अतश्च अन्तरहंकारात्मा वेदन ग्राहकरूपः, बहिश्च अध्यवसायादि-व्यापारबुद्ध्यादिकरणद्वादशात्मासग्राह्यरूपं जगद् भासयंस् तिष्ठति-इति स्थूलदृशार्थः।

रहस्यदृशा तु गृहीतसर्वेन्द्रियमूर्तिरपि यः सृष्ट्यादिमरीचि-चक्रचित्रसञ्चारचातुर्याद् द्वादशात्मा एक एव चिदर्कोऽन्तर्बहिश्च जगत् कालानलादि-व्योमकलान्तं विश्वं भासयंस् तुर्यधामात्म-निजभासा चक्रमयत्वमापादयन् सर्वकरणान्याधारतया निजौजोज्वलनज्वलितान्याश्रित्य स्थितस् तं प्रकर्षेण प्रपद्ये-निजव्युत्थानं (ने) साक्षात्कुर्वन् स्थितोऽस्मि इत्यर्थः।।३।।

प्रपञ्चव्याप्त्याखिलेन्द्रियाधारे स्तुतेऽपि भगवति प्रकाशविमर्श-परमार्ते तद्विमर्शप्रसरसरणिं वाणीं स्तौति --

या सा *मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती **त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात्प्रसूतान्।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये।।४।।

(अन्वय)

(अहं) तां प्रथमम् उदितां पश्यन्तीं वाचं, बुद्धि-संस्थां मध्यमां (वाचं) वक्त्रे च करण-विशदां वैखरीं (वाचं) प्रपद्ये, या सा (तालु-आदि-स्थान-प्रयत्न-रूपात्) प्राण-सङ्गात् प्रसूतान् त्रिषष्टिं वर्णान् अत्र मित्र-वरुण-सदनात् प्रकट-करणैः उच्चरन्ती (स्थिता अस्ति)।।४।।

(शब्दार्थ)

(अहं) = (मैं)	**उदिता** = उत्पन्न हुई
ताम = उस परावाणी को	**पश्यन्तीं** } = पश्यन्ती
प्रपद्ये = प्रणाम् करता हूँ	**वाचं** } वाणी का
या = जो	**बुद्धि-**] = बुद्धि में स्थित
प्रथमं = पहिले	**संस्थां**] होने पर

मध्यमां } = मध्यमा
(वाचं) } (वाणी) का
च = और
वक्त्रे } = बोलने में
करण } इन्द्रियों के
विशदां } द्वारा सपष्ट
वैखरी] = अक्षरों वाली
(वाचं)] वैखरी वाणी को
(स्थिता } = (धारण करती
अस्ति) } या उसमे
ठहरी हुई है)।
सा = वह
प्राण } = प्राणों के (तालू
संगात् } आदि स्थानों के
प्रयत्न रूपी) संग से
प्रसूतान् = उत्पन्न हुये
त्रिषष्टिं = तिरसठ
वर्णान् = अक्षरों का
अत्र = यही
मित्र } = सूर्य और
वरुण } वरूण के
सदनात् } घर से
प्रकट-] = प्रकट इन्द्रियों
करणै] द्वारा
उच्चरन्ती = उच्चारण
करती है।।४।।

(अनुवाद)

मैं उस (परा वाणी) को नमस्कार करता हूँ, जो प्राणों के (तालु आदि स्थानों के प्रयत्न रूपी) संग से उत्पन्न हुए तिरसठ अक्षरों का, सूर्य और वरुण के घर से प्रकट इन्द्रियों के द्वारा, उच्चारण

४*'सूर्य और वरुण के घर' से अभिप्राय है 'मध्य-धाम' का, जो प्राण-अपान का उत्पत्ति-स्थान है और अग्नीषोमात्मक और परा-वाणी का ही एक पर्याय-वाची शब्द है। 'सूर्य' शब्द में गरमी की प्रधानता के कारण अग्नि की ओर और 'वरुण' शब्द में सरदी की प्रधानता के कारण सोम अर्थात् चन्द्रमा की ओर संकेत है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वरुण जल का देवता कहा जाता है।

करती है और जो पहिले उदित होने पर 'पश्यन्ती' वाणी का (फिर) बुद्धि में स्थित होने पर 'मध्यमा' वाणी का और (उसके बाद) बोलने में इन्द्रियों के द्वारा स्पष्ट अक्षरों वाली 'वैखरी' वाणी का (रूप) धारण करती।।४।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

"अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपयायिनी ।।"

इत्यादिनां लक्षितां, प्रथममादौ, उदितामुन्मिषितां तां स्वरूपज्योतीरूपां पश्यन्त्याख्यां, तदनु तामेव बुद्धिसंस्थां बुद्ध्यभ्यासं प्राप्ताम् -

"केवलं बुद्ध्युपादानात्क्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ।।"

इत्यादिलक्षिताम्। मध्ये भवत्वान्मध्यमां, मध्येऽन्तःकरणे वर्तमानाम्।

तदनु वक्त्रे वदने, करणेषु जिह्वामूल जिह्वामध्यमापदेषु, विशदां निर्मलाम् :-

"स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ।।"

इत्यादिना लक्षिताम्।विखरे शरीरे, भवत्वात्तदाख्यां वाचं प्रपन्नोऽस्मि।

४** व्याकरण की दृष्टि से अ, इ, उ और ऋ अक्षरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से बारह रूप होते है। ऌ अक्षर के ह्रस्व और प्लुत के भेद से दो रूप होते है। ए, ऐ, ओ, औ अक्षरों के दीर्घ और प्लुत के भेद से आठ रूप होते है। स्पर्श २५, अन्तस्थ ४ और ऊष्म ४ अक्षर होते हैं। यम अर्थात् कुं, खुं, गुं और घुं ४ अक्षर हैं। इस प्रकार कुल अक्षरों की संख्या ६३ बनती है।

कां ताम्? इत्याह – या सा मित्रावरुणसदनाद्
अग्नी-षोम-मयात्मनः परावाक्प्रधानान्मध्यधाम्नः, अकारादी-स्त्रिषष्टिं वर्णान्, उच्चरन्ती आसूत्रितक्रमतया, भेदाभेदाभ्यां, भेदेन च विमृशन्ती। केन उच्चरन्ती? प्रकटैर् अन्तर्मुखीभावेन अभिन्न-स्फुट-प्रकाशैकध्यम् आप्तैः करणैः सर्वेन्द्रियैः।

कीदृशान् वर्णान्? प्राणसङ्घात् प्रसूतानुद्भूतान्। तत्र चिच्ज्योतिषि गुणीभूत- सूक्ष्मप्राणसङ्घात् पश्यन्त्यां, गुणीभूत चित्सूक्ष्मप्राण- सङ्घान्मध्यमायां, स्थूलप्राणसङ्घाद्वैखर्यां वर्णा जायन्ते। ते च त्रिषष्टिः, तद्यथाः-

अ-इ-उ-ऋ—वर्णाश्चत्वारो ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-भेदाद् द्वादश। ऌकारस्य दीर्घो नास्ति इति ह्रस्व-प्लुत-भेदाद् द्विविधः। सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति दीर्घ-प्लुत-भेदादष्टविधाः। एवं स्वरा द्वाविंशतिः। कादयो मान्ताः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः। अन्त- स्थाश्चत्वारः। उष्माणश्चत्वारः। कुं-खुं-गुं-घुं इति यमाश्चत्वारः। अनुस्वारविसर्ग-जिह्वामूलीय-उपध्मानीया – अं,अः, ᳵ कᳵ प, इति चत्वारः।

यथोक्तम् –

'स्वरा द्वाविंशतिश्चैव स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयः शादयश्चाष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः ॥
अनुस्वारो विसर्गश्च ᳵ क ᳵ प इति पराश्रयौ ।
त एते गदिता वर्णास्त्रिषष्टिरिह सूरिभिः ॥इति।

मित्रः सूर्योऽन्तरशेषद्वैतप्लोषकारित्वादग्निः। वरुणो ह्लादाम्याय-कारित्वात् सोमः।

'वर्णानन्तः प्रकट करणैः प्राणासङ्गात् प्रसूते'-- इति पाठान्तरे वा परावाक् शक्तिर्मित्रावरुणसदनाद् उच्चरन्ती प्रमाण-प्रमेयात्मक, सूर्य-चन्द्राश्रयेणात्माकाशाद् ऊर्ध्वं सरन्ती सर्वोत्तीर्णं निजं धाम प्रमातृरूपं स्त्रवन्ती अस्ति। सैव अन्तः-प्रकटैर् अन्तरेव स्फुटैरिन्द्रियैः कृत्वा त्रिषष्टिं वर्णान् प्राणसङ्गाद्धेतोः प्रसूते जनयति-इत्यन्वयः।

इन्द्रियाणां रूपाद्युपलब्ध्यानुमेयत्वाद् बहिः स्फुटत्वाभावेन अन्तःप्रकटीभावः। एतदभिधेयपक्षे उच्चारणप्रसूत्योः क्रमेण अनुवाद्यविधेयभावः।।४।।

उपक्रमणिका---एवं वाक्प्रसरान्तं भगवन्तं स्तुत्वा मध्यधामसाफल्यम् अर्थयतेः-

ऊर्ध्वाधःस्थान्यतनुभुवनान्यन्तरा संनिविष्टा
***नानानाडिप्रसवगहना सर्वभूतान्तरस्था।**
प्राणापानग्रसननिरतैः प्राप्यते ब्रह्मनाडी
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना।।५।।

(अन्वय)

सा ब्रह्मनाडी (रूपिणी) श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसान्ना भवतु, (या) उर्ध्व-अधःस्थानि अतनु-भुवनानि अन्तरा संनिविष्टा, (या) नाना-नाडि-प्रसव-गहना, (या) सर्व-भूत-अन्तरस्था (या च) प्राण-अपान-ग्रसन-निरतैः (योगिभिः) प्राप्यते।।५।।

(शब्दार्थ)

सा = वह
ब्रह्मनाडी = ब्रह्मनाडी
(रूपिणी) = (रूपिणी)
श्वेता = निर्मल
परम-आदित्य- } = चित् सूर्य
मूर्तिः } की मूर्ति

नः = हम पर
प्रसन्ना भवतु, = प्रसन्न हो,
(या) = (जो)
उर्ध्व- } = ऊपर और
अधःस्थानि } नीचे होने वाले

अतंनु-]= अनेक	**सर्व-** } = सब प्राणियों
भुवनानि] भुवनों के	**भूत-** } के हृदय में
अन्तरा = मध्य में	**अन्तरस्था** } वास करती है,
संनिविष्टा, = ठहरी हूई है,	**(या च)** = (और जो)
(या) = (जो)	**प्राण-अपान-**} = प्राण और
नाना-नाडि-} =अनेक नाडियों	**ग्रसन-** }अपान का ग्रास
प्रसव- } के होने से घनी	**निरतैः** } करने में लगे हुये
गहना } बनी हुई है,	**(योगिभिः)** = (योगियों को)
(या) = (जो)	**प्राप्यते** = प्राप्त होती है।।५।।

(अनुवाद)

वह ब्रह्मनाडी (रूपिणी) निर्मल चित् सूर्य की मूर्ति हम पर प्रसन्न हो, (जो) ऊपर और नीचे होने वाले अनेक भुवनों के मध्य में ठहरी हूई है, (जो) अनेक नाडियों के होने से घंनी बनी हुई है, (जो) सब प्राणियों के हृदय में वास करती है, (और जो)प्राण और अपान का ग्रास करने में लगे हुये योगियों को प्राप्त होती है ।।५।।

५*'मनुष्य के शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियां होती है। इन में से मुख्य नाड़ी को 'ब्रह्मनाड़ी' कहते है। इसी ब्रह्मनाड़ी रूपी धागे में अन्य सभी नाड़ियां माला के दानों की भान्ति पिरोई हुइ होती है।

ब्रह्मनाड़ी और चित्त-देवता में कोई भेद नही है। ब्रह्मनाड़ी का अनुभव होने पर ही समस्त भुवनों का ज्ञान होता है। इस कारण से सभी भुवन भी ब्रह्मनाड़ी के ही अन्तर्गत कहे जा सकते हैं।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

एवं परमादित्यस्य चिद्-भानोर्, ब्रह्मनाडीरूपा या सा इति दिव्या मूर्तिः समुच्छ्रिताकृतिर् नोऽस्माकं प्रसन्ना प्रशस्ता प्रशमित प्राणादिकालुष्या, अत एव श्वेता-चिदानन्दघनतया स्फुरन्ती, अस्तु।

कीदृशी सा?

या ऊर्ध्वम् अधश्च स्थितानि अतनुनि अनल्पानि अनाश्रितादिकालाग्न्यन्तभुवनेश- नानाभुवनानि देहे बहिश्च अन्तरा मध्ये संनिविष्ठा व्याप्य अवस्थिता। तथा नानानाडीनां चक्षुरादिरोमरन्ध्रान्तानां सुषिराणां प्रसवेन स्फारेण गहना सर्वैर्दुष्प्रापा। सर्वेषां स्थावरादिदेवयोनिभेदान्तानां भूतानाम् अन्तरस्था देहमध्ये वर्तमाना। यतश्च उक्तयुक्त्या गहना अत एव कैश्चिदेव प्राणापानयोः सर्ववाहप्रसरप्रवेशयोर् ग्रसननिरतैर् भक्षणप्रगल्भैः प्राप्यते समाविश्यते।।५।।

किं च -

न *ब्रह्माण्डव्यवहितपथा नातिशीतोष्णरूपा
नो वा नक्तंदिवगममितातापनीयापराहुः।
वैकुण्ठीया तनुरिव रवे राजते मण्डलस्था
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना।।६।।

(अन्वय)

अन्वय -- सा श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु, या ब्रह्माण्ड-व्यवहित-पथा न (भवति), (या) अति-शीत-ऊष्ण-रूपा न (अस्ति), (या) नक्तं-दिव-गम-मिता न (भवति), (या) अतापनीया अपराहुः (च अस्ति या) वा रवेः मण्डलस्था वैकुण्ठीया तनुः इव राजते ।।६।।

(शब्दार्थ)

सा = वह	**पथा** = मार्ग से
श्वेता = निर्मल	**व्यवहित न** = व्यवहित नहीं (अव्यवहित)
परम- } = सर्वोत्कृष्ट	
आदित्य-} भास्कर	**(भवति),** = (है),
मूर्तिः } की प्रतिमा	**(या)** = (जो)
नः = हम पर	**न** = न
प्रसन्ना = प्रसन्न	**अति** = अधिक
भवतु, = हो,	**शीत** = ठंढी
या = जो	**(च)** = (और)
ब्रह्माण्ड = ब्रह्माण्ड (के)	**(न)** = (नही)

(अति) = (अधिक)

ऊष्ण = गरम

(अस्ति),= (है),

(या) = (जो)

नक्तं- } = दिन रात
दिव- } के चक्कर
गमं-इता } से मुक्त

(भवति), = (है),

(या) = (जो)

अतापनीया = संताप न देने वाली

(च) = (तथा)

अपराहुः = राहु के ग्रास से छूटी हुई

(अस्ति) = (है),

(च) = (और)

(या) = (जो)

रवेः = सूर्य के

मण्डलस्था = मण्डल में ठहरी हुई

वैकुण्ठीया = विष्णु की

तनुः इव = मूर्ति के समान

राजते = शोभायमान है।।६।।

(अनुवाद)

वह सर्वोत्कृष्ट भास्कर की निर्मल प्रतिमा हम पर प्रसन्न हो, जो ब्रह्माण्ड के मार्ग से अव्यवहित है, जो न अधिक ठंढी और न अधिक गरम है, जो दिन और रात के चकर से मुक्त है, जो संताप न देने वाली और राहु के ग्रास से छूटी हुई है, जो (चित् रूपी) सूर्य के मण्डल में शोभायमान ठहरी हुई है और जो (इस प्रकार) विष्णु की (वामन अवतार-संबन्धिनी) मूर्ति के समान है ।।६।।

६*'बाह्य सूर्य की मूर्ति ब्रह्माण्ड से भिन्न ठहर ही नहीं सकती, पर आत्मिक सूर्य की मूर्ति ब्रह्माण्ड के मार्ग से अव्यवहित है। इधर यह सूर्य तो जाड़े और गरमी के भाव से युक्त होता है, पर उधर वह सूर्य

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

ब्रह्मणो ब्रह्मबिलावरणनिविष्ठस्य, अण्डं गर्भीकृत भू-मूल-मायाण्ड-प्रपञ्च-शक्त्यण्डं, तेन न व्यवहिता अपि तु समन्ततः क्रोडीकारी पन्था प्रसरमार्गो यस्याः तथा अतिशीतः सोमः अत्युष्णो वह्नि इयं तु द्वैतदाहाद् अद्वैतानन्दस्यन्दित्वाच्च नैवंरूपा अपि तु समरसीभूताग्नीषोमात्मा। तथा नक्तंदिवं रात्रिदिनं यो गमो भ्रमणं तेन नो मिता प्रमेयभावं न प्राप्ता तद्वती। तथा अतापनीया परमाह्लादप्रदा। तथा अपगतो राहुराच्छादनप्रधानः शून्यप्रमाता यस्याः सा। किं च रवेश्चिद्भानोर्मण्डले रश्मिपरिवेषे राजते दीप्यते। ब्रह्मार्कमूर्तिस्तु ब्रह्माण्डव्यवहिता स्वर्लोकान्तमात्रावभासिका, शिशिरग्री-ष्मादावतिशीतोष्णरूपा, अहर्निशं भ्रमन्ती, सन्तापिका,

---

अधिक सरदी या अधिक गरमी के विकार से रहित है। रात और दिन के होने पर बाह्य सूर्य अस्त तथा उदित होता है, पर आत्मिक सूर्य रात्रि तथा दिन के चक्कर में नही पड़ता। ऐहिक सूर्य की मूर्ति तो परिमित है, पर आत्मिक सूर्य की मूर्ति अपरिमित है। इस सूर्य की मूर्ति तो सरदी और गरमी के कारण संताप देती है, पर वह सूर्य आह्लाद तथा आनन्द वितरण करता है। इसके अतिरिक्त बाह्य सूर्य राहु से ग्रस्त हो जाता है, पर आन्तरिक सूर्य राहु के फंदे में कभी पड़ता ही नही। अतः यह बात स्पष्ट ही है कि इन दोनों सूर्यों में परस्पर कितना वैषम्य है।

६**पाठान्तर - अतापनीया

राह्वभिभूता चेति व्यतिरेकध्वनिः। वैकूण्ठस्य विष्णोर्मूर्तिरिव-इत्युपमा। सापि च बलिवञ्चनावसरे ब्रह्माण्डान्तर्निरुद्धमार्गा न केनचित्। त एव नातिशीतोष्णोरूपाप्रकाशाह्लाददा भक्तानामित्यर्थः। नक्तंदि-वगमेनाहोरात्र परिभ्रमणेन न मिता। देवादिभिर्नेयत्तया परिच्छिन्नेत्यर्थः। तापनीया महाप्रतापवती।

अपगतराहुरपक्रान्तरविमण्डला चेति श्लेषः।

एवमयमत्रेपमाश्लेषो व्यतिरेकध्वनिना संसृष्टः।।

अथ युगपदन्तर्बहिश्चार्कमूर्ति स्तौति --

यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म *तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि **परमं भाति निर्वाणमार्गः।
त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्तः +सूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः।।७।।

(अन्वय)

अहं मुक्तये तत् चण्डरश्मेः मण्डलं प्रपन्नः (अस्मि), यत्र त्रिगुण-वपुषि तत् बिन्दु-रूपं ब्रह्म आरूढम्, यत् अपि योगीन्द्राणां परमं निर्वाण-मार्गः भाति, यत् त्रयी-आधारः प्रणवः-इति (उच्यते) यत् च अन्तर सूक्ष्मम् (एवं) बहिर् बृहत् अपि अस्ति ।।७।।

(शब्दार्थ)

अहं = मैं	**वपुषि** } युक्त रूप में
मुक्तये = मुक्ति प्राप्ति के लिये	**तत्** = वह
तत् = उस	**बिन्दु-रूपं** } = बिन्दु रूपी
चण्डरश्मेः } = सूर्य के	**ब्रह्म** } ब्रह्म
मण्डलं } मण्डल की	**आरूढम्** } स्थित् है,
प्रपन्नः] = शरण	**यत् अपि** = ओर जो
(अस्मि),] जाता हूं,	**योगीन्द्राणां** = बड़े बड़े योगियों को
यत्र = जिसके	
त्रिगुण- } = तीन गुणों से	**परमं** = श्रेष्ट (अर्थात् सच्चे)

निर्वाण- } = मोक्ष का
मार्गः } उपाय
भाति, = दीख पड़ता है।
यत् = जो
त्रयी- } = ओंकार के
आधारः } रूप में तीन
प्रणवः- } वेदों का
इति } आधार (कहा
(उच्यते) } जाता है)
यत् च = और जो
अन्तर = भीतर
सूक्ष्मम् = सूक्ष्म
(एवं) = और
बहिर् = बाहिर से
बृहत् अपि = महान्
अस्ति = है।।७।।

(अनुवाद)

मैं मुक्ति (की प्राप्ति) के लिए (उस) सूर्य के मण्डल की शरण जाता हूं, जिस के (सृष्टि-स्थिति-संहार रूपी, या अकार-उकार-मकार रूपी, या प्राण-अपान-समान रूपी, या सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी) तीन गुणों से युक्त (प्रणव के) रूप में बिन्दु

७*सृष्टि-स्थिति-संहार, अकार-उकार-मकार और प्राण-अपान-समान के अविभक्त प्रकाश को बिन्दु कहते हैं।

७**वैष्णव आदि द्वैतवादी जिस मुक्ति को प्राप्त करना चाहते है, वह 'अपरा' अर्थात् असत्य मुक्ति ही कही जा सकती है, क्योंकि वह सच्ची मुक्ति न होकर उस का आभास-मात्र ही होती है। इस के प्रत्युत अद्वैतवादियों के दृष्टि-कोण से जिस मुक्ति को वाञ्छनीय कहा जाता है, वही 'परा' अर्थात् सच्ची मुक्ति है और उसी की और यहां संकेत है। वैशणव आदि द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों की मुक्ति के लक्षणों और स्वरूपों में क्या भेद है - यह बात विस्तार-भय से नही लिखी जाती है।

रूपी ब्रह्म स्थित् है, जो बड़े बड़े योगियों को श्रेष्ट (अर्थात् सच्चे) मोक्ष का उपाय दीख पड़ता है, जो ओंकार के रूप में तीन वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) का आधार है और जो भीतर से सूक्ष्म तथा बाहिर से महान् है ।।७।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

तच्चण्डरश्मेश्चिद्दीप्तांशोर्मण्डलं मुक्तये समावेशात्मजीवन्मुक्त्यर्थं प्रपन्नोऽस्मि। कीदृशम्? अन्तश्चिद्भुवि सूक्ष्मम् आद्योन्मेषात्म-योगीन्द्रैरेव लभ्यं, बहिरपि बृहत्परिणाम्। यत्र सृष्टि-स्थिति-संहारकारि, रजः-सत्त्व-तमोनिविष्ट, ब्रह्म-विष्णु-रुद्राभिधायि, अकार-उकार-मकाराख्य, ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत-वर्णत्रयात्म-त्रिगुण-वपुषि प्रणवे, विश्ववेद्याविभाग वेदनात्मा बिन्दुरिति तदुपलक्षितोन्मनान्ताप्रमेयपरिपाटीरूपं यस्य तादृग् बृहत् ब्रह्भ बृंहकं शाक्ततेज आरूढम् अत्युत्कृष्टतया व्यवस्थितम्। यच्च परमम् असामान्यं, योगीन्द्राणां मितयो योग्यतिशायिपरत्त्वैक-भाजां निर्वाणमार्गो जीवन्मुक्त्युपायो भाति स्वप्रकाशरूपतया स्फुरति, त्रय्याः प्राङ्गिर्णीतया। आधार आश्रयः, प्रकर्षेण

७+आध्यात्मिक सूर्य के दो रूप है, स्थूल और सूक्ष्म। बाहर से विश्वाकार होने के कारण उसका रूप स्थूल है और भीतर से 'प्राथमिक आलोचन' का स्वरूप होने से उसका रूप सूक्ष्म है। प्रत्येक वस्तु के देखने से पूर्व उस वस्तु के विषय में आकार से रहित निर्विकल्पभाव से जो प्रतीति होती है, उसे 'प्राथमिक आलोचन' या 'प्रथमाभास' कहते है। इसका अनुभव तो योगी-जन ही करते है।

नूयते उत्कृष्टतया विमृश्यते परं पारमेश्वरं स्वरूपं येन-इति कृत्वा 'प्रणव' इत्येतन्नाम यत्। बाह्योऽप्यर्कमण्डलेः-

'नवयोजनसाहस्रो विग्रहोऽर्कस्य मण्डलम्'। त्रिगुणं'

इति स्वच्छन्दादिष्टनीत्या यत्र बिन्दुरूपमिति सितवर्तुलाकारं ब्रह्ममयं तदसामान्यं बिम्बमारूढं, तच्च योगिनां निर्वाणमार्गः--तेषां हि सूर्यमण्डल भेदनस्य श्रवणात्। तथा वक्ष्यमाणदृशा साम-ऋग्-यजुर्मय-धाम मण्डलाकृतित्वात् त्र्य्याधारः। प्रकर्षेण नूयमानत्वात् प्रणवो विश्वशरीरत्वाच्च प्रणवः।।७।।

***यस्मिन्सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः**
क्षीणः क्षीणः प्रविशति यतो वर्धते चापि भूयः।
यस्मिन्वेदा मधुनि सरघाकारवद्भान्ति चाग्रे
तच्चण्डांशोरमितममृतं मण्डलस्थं प्रपद्ये।।८।।

(अन्वय)

(अहं) तत् चण्डांशोः मण्डलस्थम् अमितम् अमृतम् प्रपद्ये, यस्मिन् सुर-पितृ-नरैः अन्वहं पीयमानः (इत्येवं) क्षीणः क्षीणः सोमः प्रविशति, यतः च अपि भूयः वर्धते, यस्मिन् च वेदाः मधुनि सरघा-आकार-वत् अग्रे भान्ति।।८।।

(शब्दार्थ)

(अहं) तत् = (मैं) उस
चण्डांशोः = चित् स्वरूप के
मण्डलस्थं = सूर्यमण्डल स्थित
अमितम् अमृतम् = अमित अमृत को
प्रपद्ये, = प्रणाम करता हूँ,
यस्मिन् सुर-पितृ-नरैः = जिस में देवताओं, पितरों तथा मनुष्यो से
अन्वहं = सदा
पीयमानः = पिया जाने वाला
(इत्येवं) = (और इसी लिये क्रम पूर्वक)
क्षीणः क्षीणः=क्षीण होता हुआ
सोमः = (प्राण ओर अपान रूपी) चन्द्रमा
प्रविशति, = प्रवेश करता है।
यतः = जिस के सम्पर्क मात्र से (अपने ही)

च अपि }= परिपूर्ण भाव | **मधुनि सरघा-**} = एसे ही
भूयः वर्धते,} को फिर से |**आकार-वत्** } दीख पडते
प्राप्त होता है। |**भान्ति।** } है जैसे
च यस्मिन् } = और जिसके | शहद पर
अग्रे वेदाः } आगे वेद | मधु मक्खियां।।८।।

(अनुवाद)

मैं उस (चित्स्वरूप) सूर्य के मण्डल में स्थित (परमानन्द रूपी) अमित अमृत को प्रणाम करता हूँ, जिस में देवताओं, पितरों और मनुष्यों से सदा पिया जाने वाला (और इसी लिये क्रम-पूर्वक) क्षीण होता हुआ (प्राण ओर अपान रूपी) चन्द्रमा प्रवेश करता है, जिस (के सम्पर्क मात्र) से (वह चन्द्रमा) फिर अपने ही परिपूर्ण-भाव को प्राप्त होता है और जिस के आगे आगे वेद ऐसे ही दीख पडते है, जैसे शहद पर मधुमक्खियां ।।८।।

८*यहां 'सोम' शब्द प्राण-अपान की ओर संकेत करता है। देवता, पितर और मनुष्य क्रम से सात्त्विक, राजस और तामसिक वृत्तियों को सूचित करते है। प्राण और अपान के अन्दर तथा बाहर आने जाने से ही वृत्तियों को पुष्टि प्राप्त होती है। अतः प्राण और अपान इन वृत्तियों के द्वारा ही समाप्त होते हैं। पर वास्तव में प्राणापान की समाप्ति नहीं होती है, क्योंकि प्राणापान की जो बाह्य तथा आन्तरिक संधि है, वही इन को बार बार जीवन प्रदान करती है। तभी तो ये प्राणापान समाप्त होने में नहीं आते। इस श्लोक में इसी संधि रूपी सूर्य की स्तुति की गई है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

चिद्भानोर्मण्डलस्थं मध्यधामनिविष्टं तत् परमानन्दरूपम् अमितम् अनल्पम् अमृतं प्रपद्ये समाश्रये। यत्रामृते सोमः सर्वो मेयवर्गः सुरादिभिः सर्वैः प्रमातृभिः प्रतिदिनं कलाग्रासयुक्तया पीयमानत्वात् क्षीणः क्षीणः सन् पुनः पुनः प्रविशति हृद्विश्रान्त्यनन्तरं निमज्जति। यत एव मण्डलाद् भूयोऽपि वर्धतेऽभिव्यज्यते मेयरूपश्चन्द्रः। यस्मिञ्च वेदाः सर्वशास्त्राणि मधुनि माक्षिके सरघाणां मधुकरीणामाकार इवाग्रे भान्ति पुरः स्फुरन्ति। यथा सरघा माक्षिकं संचित्य परिवृत्त्य सोल्लासमासते, तथा सर्वे वेदा वाक्यैकवाक्यतया पराद्वयममृतमामृश्य भ्राजन्ते। बाह्योऽपि सोमः कृष्णपक्षेषु पितृ-देव-नर-ग्रस्तकला पञ्चदशकोऽमावस्यायां सूर्यमण्डलं प्रविश्य वर्धते। वेदाश्चार्क- ज्योतिर्लग्ना आसते।।८।।

***ऐन्द्रीमाशां पृथुकवपुषा पूरयित्वा क्रमेण**
क्रान्ताः सप्त **प्रकटहरिणा येन पादेन लोकाः।
कृत्वा ध्वान्तं विगलितबलिव्यक्तिपाताललीनं
विश्वालोकः स जयति रविः सत्त्वमेवोर्ध्वरश्मिः।।
।।९।।

(अन्वय)

सः विश्व-आलोकः सत्त्वम् एव ऊर्ध्व-रश्मिः रविः जयति, येन पृथुक-वपुषा प्रकट-हरिणा विगलित-बलि-व्यक्ति ध्वान्तं पाताल-लीनं कृत्वा, (तथा) ऐन्द्रीम् आशां क्रमेण पूरयित्वा सप्त लोकः (एकेन) पादेन क्रान्ताः ।।९।।

(शब्दार्थ)

सः = वह
विश्व- } = जगत का
आलोकः } प्रकाशक
सत्त्वम् एव = प्रकाशमय ही
ऊर्ध्व-रश्मिः}= उज्ज्वल किरणों
रविः } वाला सूर्य है
जयति, = (उसकी) जय हो
येन = जिसने
पृथुक- } = बाल नारायण

वपुषा } के रूप में
विगलित-] = बलि दानव के
बलि-] व्यक्तित्व को नष्ट
व्यक्ति] करते हुए (और)
ध्वान्तं } = (उसके
पाताल- } कुलाभिमानात्मक)
लीनं } अन्धकार को
कृत्वा } पाताल मे लीन
करके

ऐन्द्रीम् } = इन्द्र दिशा (अर्थात्	**सप्त लोकः**= सातों लोकों को
आशाम् } पूर्व दिशा) को	**(एकेन)** = (एक ही)
क्रमेण = क्रम से	**पादेन** = पग में
पूरयित्वा = व्याप्त करके	**क्रान्ताः** = घेर लिया।।९।।

(अनुवाद)

उस प्रकाशमय और उज्ज्वल किरणों वाले (चित् रूपी) सूर्य की जय हो, जो जगत का प्रकाशक है, जिसने बाल नारायण के रूप में बलि दानव के व्यक्तित्व को नष्ट करते हुए तथा (उस के कुलाभिमानात्मक) अन्धकार को पाताल मे लीन करके इन्द्र दिशा अर्थात् पूर्व दिशा को क्रम से व्याप्त किया और जिसने (इस प्रकार) सातों लोकों को एक ही पग में घेर लिया।९।

९*पुराणों के अनुसार बाह्य सूर्य भी आत्मिक सूर्य की भांति सात घोड़ों से चलाये जाने वाले रथ पर चढ़ कर पूर्व दिशा में उदय करता है और उसकी सारी किरणें क्षण भर में जहाँ संसार में व्याप्त होती हैं वहाँ इस के अन्धकार को भी नष्ट करती हैं।

९**वास्तव में नारायण भी सूर्य का एक नाम है। गीता में भी कहा गया है - 'आदित्यानामहं विष्णुः'।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

'यो हि यस्माद्गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वमिष्यते' इति स्थित्या ऊर्ध्वा विश्वोत्कृष्टा रश्मयो यस्य। अत एव सतां विद्यमानानाम् अशेषाणां भावः सत्त्वं महाप्रकाशात्मरूपम्। तदेव तत् परमार्थः। ततश्च प्रकाशमानतया प्रकाशात्मन्येव विश्वस्य मग्नत्वात् प्रकाशो विश्वलोकः स एव रविश्चिद्भानुः, जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। येन ऐन्द्रीमाशां प्राच्योन्मेषदशां, पृथुकवपुषा योगिगम्यसूक्ष्मशाक्तस्पन्दात्मना, पूरयित्वा उन्मिषितप्राणादि- सङ्कोच-चित्प्राधान्योच्छलितां कृत्वाः-

'शिवादिसकलात्मान्ताः शक्तिमन्तः प्रकीर्तिताः'।

इति श्रीपूर्वादिष्टनीत्या शिव-मन्त्रमहेश्वर-मन्त्रेश्वर- मन्त्र-विज्ञानाकल-प्रलयाकल-सकलाख्या क्रमात्क्रमं प्राणीयतुटिस्था निजशक्तिसहिताः सप्त लोकाः --

पादोऽस्य विश्वा भूतानि (त्रिपादस्यामृतं दिवि)

(पु० सू० ३)

इति स्थित्या, पादेन निजांशमात्रेण, आक्रान्ताः क्रोडीकृत्य स्वज्योतिर्मयीकृताः ।

कीदृशेन? प्रकटाः स्वात्माभासा रूपादिविश्वहरणाद् हरयः-चक्षुरादिशक्तयो यस्य।

तदुक्तं श्रूतौः--

'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश'।

इति। निःसंख्यशक्तिरात्मा-इति ह्यस्यार्थः ।

कथं क्रान्ताः?

ध्वान्तम् आत्मन्यनात्मप्रतीत्या आत्माज्ञानं, विगलिता बलिर् अनात्मन्यात्माभिधायिनी व्यक्तिर्यस्यतादृक्, पाताललीनं निःशेष-प्रशमितं कृत्वा। बाह्येनाप्यर्केण सप्ताश्वारूढेन ऐन्द्री दिशं सूक्ष्मरूपेणापूर्य भूरादिलोकाः पादेन मरीचिभिर्ध्वान्तं ध्वंसयित्वा क्रमेण क्रान्ताः। कटहरिणा च नारायणेन विगलिता बल्याख्यस्य दानवेन्द्रस्य व्यक्तिर्यत्र तद्ध्वान्तं दानवकुलं पाताललीनं कृत्वा भूरादिलोकाश्चरणविन्यासक्रमेण आक्रान्ताः।

किं कृत्वा?

पृथुकवपुषा बालवामनशरीरेण इन्द्रादिदिगापूरणं कृत्वा। सोऽपि विश्वालोकाः सत्त्वप्रधानश्च इत्यत्र श्लेषालङ्कारः। श्लेषोपमाध्वनिसंसृष्टिरियम्।।९।।

ध्यात्वा ब्रह्म प्रथममतनु प्राणमूले नदन्तं
दृष्ट्वा चान्तः प्रणवमुखरं व्याहृतीः सम्यगुक्त्वा ।
यत्तद्वेदे तदिति सवितुर्ब्रह्मणोक्तं वरेण्यं
तद्भर्गाख्यं किमपि परमं *धामगर्भं प्रपद्ये ।।१०।।

(अन्वय)

(अहं) प्रथमं प्रणव-मुखरं तत्-इति व्याहृतीः सम्यक् उक्त्वा, प्राण-मूले नदन्तम् अतनु ब्रह्म अन्तर् ध्यात्वा दृष्ट्वा च, तत् किम्-अपि परमं धाम-गर्भं भर्ग-आख्यं (तेजः) प्रपद्ये, यत् तत् सवितुः वरेण्यं (तेजः) ब्रह्मणा वेदे उक्तम् ।।१०।।

(शब्दार्थ)

(अहं) = मैं
प्रथमम् = पहिले
प्रणव- } मुखरम् } = ओऽम शब्द के उच्चारण के साथ साथ
तत्-} इति } = तत् इत्यादि (गायत्रीमन्त्र सम्बन्धित)
व्याहृतीः = व्याहृतियां
सम्यक् = भलीभांति
उक्त्वा, = कहकर

प्राण-मूले = मूलाधार में स्थित
अतनु = देह के सम्बन्ध से रहित
नदन्तम् = अनाहत शब्द करते हुये
ब्रह्म } अन्तर् } ध्यात्वा } = ब्रह्म का हृदय में ध्यान करता हूँ
दृष्ट्वा] च,] = और (भीतर से उसका) दर्शन करता हूँ
तत् = (बाद में) उसे

किम्- } = किसी	**प्रपद्ये,** = प्रणाम करता हूँ।
अपि } अलौकिक-	**यत्** = जो
परमं } उत्कृष्ट	**तत्** } = उसके
धाम-] = प्रकाश से	**सवितुः** } वरणीय रूप
गर्भम्] गर्भित	**वरेण्यम्** } का वर्णन
भर्ग- } = भर्ग नामक	**ब्रह्मणा** = ब्रह्मा जी ने
आख्यं } सूर्य के	**वेदे** = वेद में
(तेजः)} तेज को	**उक्तम्** = कहा है।।१०।।

(अनुवाद)

मैं पहिले ओऽम शब्द के उच्चारण के साथ साथ 'तत्' इत्यादि (गायत्रीमन्त्र सम्बन्धिनी) व्याहृतियां भली भांति बोलता हूँ। (फिर) मूलाधार में स्थित, अनाहत शब्द करते हुए और देह (के सम्बन्ध) से रहित ब्रह्म का हृदय में ध्यान करता हूँ और (भीतर से उस का साक्षात्) दर्शन करता हूँ। (तत्पश्चात्) में उस अलौकिक, उत्कृष्ट और (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के) प्रकाश से गर्भित भर्ग नामक (सूर्य के तेज) को प्रणाम करता हूँ, जिस के वरणीय रूप का वर्णन हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने वेद में किया है।।१०।।

१०*स्तोत्रकार ने चित्सूर्य को धाम-गर्भ इस कारण से कहा है कि सूर्य, सोम और अग्नि का प्रकाश अथवा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का प्रकाश इसी तुरीयरूप चित्सूर्य के प्रकाश में गर्भित है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

ब्रह्मणा प्रजापतिना वेदेषु, प्रणवमुखरम् ओंकारोच्चारणपूर्वं, तदित्यादि गायत्र्याः सवितुर्विश्वप्रसूतिहेतोश्चिदादित्यस्य, यत्तत्किमपीत्यसामान्यं, 'भर्ग' इत्याख्या यस्य तत्, परमं सर्वोत्कृष्टं, धाम परिस्फुरत्तात्म शाक्तं तेजो बाह्यसूर्यसोमवह्न्यादिधामक्रोडीकारित्वाद् धामगर्भं, वरेण्यम् अनुग्रहकारि, उक्तं तत् प्रपद्ये समाविशामि।

किं कृत्वा ब्रह्मणोक्तम्? किं कृत्वा च प्रपद्ये?

प्रथमम् आदौ, अतनुरशरीरं श्रीभर्गशिखादिष्टनीत्या अकारपरामर्शात्म वीरेश्वराख्यं च ब्रह्म बृहद् बृहंकञ्च पर शाक्तं धाम, प्राणमूले अप्राणाद्यस्फुरत्ताधाम्नि, ध्यात्वा विचिन्त्य, अनन्तरं नदन्तमिति नादाख्यं परविमर्शात्मानम्, अन्तरिति उक्तशाक्तरूपप्राणितकल्पतया स्थितं, दृष्टवा स्वात्मतया साक्षात्कृत्य, प्रणवमुखरं तन्नादविमर्शानुप्रवेशावष्टम्भबलोन्मिषत्प्रणवोच्चारणपूर्वम्। तथा 'भूः स्वाहा, भूवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इति च मन्त्ररूपाः, समग्र-मेय-मान-प्रमातृणां ससंस्काराणां परब्रह्ममयत्वामर्शिनीर्व्याहृतीश्चतस्रः, सम्यगिति अन्तरामर्शावष्टम्भाशैथिल्येनोक्त्वा उच्चार्य।

अथं च "सर्वव्यवहारानेकरूपाः कथा जपः" -- इति शिवसूत्रादिष्टनीत्या तदभेदामर्शप्रधानतया परशाक्तरसप्लावितान् संपाद्य। शाक्तधामैकाग्र्यवशासादित शाम्भवधामावष्टम्भबलेन व्युत्थानदशामपि तदभेदरसप्रोक्षितां विधाय-इत्यर्थः।

धामगर्भमित्यत्र धामशब्दस्तन्त्रेण द्विरुक्तः। तथा प्रणवमुखरम् इति।

त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिरिति मे यस्तु भेदग्रहोऽयं
सैवाविद्या तदपि सुतरां तद्विनाशाय युक्तः।
स्तौम्येवाहं त्रिविधमुदितं *स्थूलसूक्ष्मं परं वा
विद्योपायः पर इति बुधैर्गीयते +खल्वविद्या।।११।।

(अन्वय)

(अहं) त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामि इति तु यः अयं भेद-ग्रहः मे (अस्ति), सा एव अविद्या (भवति, तथापि) तत् अपि तत्-विनाशाय सुतरां युक्तः। (तस्मात्) अहं त्रि-विधम् उदितं स्थूल-सूक्ष्मं परं वा (त्वां) स्तौमि एव, (यतः) खलु परः विद्या-उपायः बुधैः अविद्या इति गीयते।।११।।

(शब्दार्थ)

(अहं) = मैं	**तत् अपि** = पर वही (अविद्या)
त्वाम् = तुझे	**तत्- विनाशाय** } = उस भेद रूपिणी अविद्या को
स्तुतिभिः = स्तुतियों द्वारा	**सुतराम्** = सर्वथा
स्तोष्यामि = प्रसन्न करूँगा	**युक्ता** = युक्त है।
इति तु = इस प्रकार का	**(तस्मात्)** = (इसलिये)
यः अयम् = यह जो	**त्रि-विधम्** = तीन प्रकार के (आपके)
भेद-ग्रहः = भेदावेश	**उदितम्** = उदित
मे (अस्ति), = मुझे (है)	**स्थूल-** } = स्थूल,
सा एव अविद्या } = वही अविद्या है।	

सूक्ष्मं } सूक्ष्म और पर	**विद्या** } = आत्म विद्या की
परं वा } रूपों को	**परः** } प्राप्ति का श्रेष्ठ
अहं = मैं	**उपाय** } उपाय ज्ञानियों ने
स्तौमि एव, = स्तुति करके ही रहूँगा	**खलु** = निश्चय करके
	अविद्या } = अविद्या ही को
(यतः) = क्योंकि	**इति गीयते** } कहा है।।११।।

(अनुवाद)

मैं तुझे स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करूँगा, इस प्रकार का जो मुझे भेदावेश हुआ है, वही अविद्या है । पर वही (अविद्या) तो (भेद-आवेश-रूपिणी) उस (अविद्या) को नष्ट करने में सर्वथा युक्त है। (आप के) तीन प्रकार से उदित स्थूल, सूक्ष्म और पर रूपों की मैं तो अवश्य स्तुति करके ही रहूँगा, (क्योंकि) आत्म-विद्या की प्राप्ति का उपाय ज्ञानियों ने निश्चय करके अविद्या ही को कहा है।।११।।

११*चित्सूर्य के स्थूल, सूक्ष्म और पर - ये तीन रूप कहे जाते हैं। इसका स्थूल रूप वही है, जो बाह्य सूर्य का है। इस का सूक्ष्म रूप वही है, जो ब्रह्म-नाड़ी का है, जिस का योगी-जन ही अनुभव करते हैं। और इस का पर रूप वही है जो समाधि और व्युत्थान के भेद से परे हे और जो बाह्य तथा आन्तरिक जगत में एक जैसा रहता है। इसका अनुभव भी योगी ही करते हैं।

११+स्तोत्रकार ने यहां 'अविद्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है', इस कथन की ओर संकेत किया है। वास्तव में अभिप्राय यह है कि होम, जप और हवन आदि जितने भी ईश्वर की प्राप्ति के साधन हैं, वे सभी अविद्या के

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन्! त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामि इति स्तोतृ-स्तुत्य-सतुति-कल्पनात्मा यो मे भेदग्रह एषैव चिदद्वया-प्रथनात्माविद्या, तथापि तस्या अविद्यायाः सुतराम् अतिशयेन विनाशाय निःशेषोन्मूलनाय युक्तो नित्यसंबद्धस् त्वां स्तौम्येव देहादिप्रमात्तृतानिमज्ञनेन सर्वोत्कृष्टतया सततं परामृशामि, न तु क्षणमप्युदासीन आसे। त्वामेव चिदर्कं स्तौमि न तु परिमितां काञ्चन देवताम्।

कीदृशं त्वाम्?

स्थूलं बाह्यप्राणार्करूपम्, सूक्ष्मं मध्यनाडीगतं प्राणब्रह्मरूपम्, परं च अनवच्छिन्नं विश्वात्मचिदानन्दघनम्। तदिति प्राक्तनवाक्य व्याकर्णितम् एकम् एव। नित्योदितञ्च। वा शब्दश्चार्थे युक्तं चैतत् यतो बुधैसतत्त्वज्ञैर् अविद्या एव विद्या-उपायः पर इति उक्तः। स्तोत्रस्तुत्यादिविभागकल्पना-त्माविद्ययासमस्ताविद्याबीजदेहादिप्रमातृत्वाभिमानप्रशमनेन चिदानन्दघनपरमात्मोत्कर्षं परामर्शात्मा स्तुतिः परसमावेश-प्रदा--इत्यर्थः।।११।।

अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि ऐसे साधनों का प्रयोग करने से ईश्वर तथा जीव में परस्पर भेद देखा जाता है। पर अन्त में इन्हीं साधनों के द्वारा तो ईश्वर-प्राप्ति होती है। अतः स्पष्ट ही है कि अविद्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है।

***योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणोऽणोरणीयान्महीया-**
न्विश्वाकारः सगुण+ इति वा कल्पनाकल्पिताङ्गः।
नानाभूत++ प्रकृतिविकृतीर्दर्शयन्भाति यो वा
तस्मै तस्मै भवतु परमादित्य नित्यं नमस्ते।।१२।।

(अन्वय)

हे **परम-आदित्य! यः (भवान्) अन्-आदि-अन्तः अपि अतनुः अगुणः अणोः अणीयान् महीयान् विश्व-आकारः सगुणः इति वा कल्पना-कल्पित-अङ्गः (अस्ति), यः वा नाना-भूत-प्रकृति-विकृतीः दर्शयन् भाति, तस्मै तस्मै (नाना-रूप-धारिणे) ते नित्यं नमः भवतु।।१२।।**

(शब्दार्थ)

हे परमादित्य! = हे महान-सूर्य!
(भवान्) = (आप)
अन्-आदि-अन्तः = आदि और अन्त से रहित,
अतनुः=शरीरके संपर्क से रहित,
अगुणः = (तत्त्व आदि) गुणों से भिन्न,
अणोः-अणीयान् = सूक्ष्म से सूक्ष्म,
महीयान् = महान् से महान्
विश्व-आकारः = विश्वाकार, (और)
सगुणः = (सर्वज्ञता आदि) गुणों से युक्त (हैं)
इति वा = इस प्रकार
अङ्गः = आपका स्वरूप
कल्पना-कल्पितः = कल्पना के आधार पर
(अस्ति), = निश्चित किया है।
वा = अथवा

यः = जो आप
नाना- } = नाना प्रकार के
भूत- } प्राणियों की
प्रकृति- } प्रकृति तथा
विकृतीः } विकृति को
दर्शयन् = दिखाते हुए
भाति, = दृष्टिगोचर होते हैं।

(नाना- } = (अनेकानेक
रूप- } रूप धारण
धारिणे) } करने वाले)
ते नित्यं = आपको नित्य
नमः = नमस्कार
भवतु = हो ।।१२।।

(अनुवाद)

हे महान-सूर्य! आप आदि और अन्त से रहित, शरीर के सम्पर्क से रहित, (सत्त्व आदि) गुणों से भिन्न, सूक्ष्म से सूक्ष्म, (महान् से महान्) विश्वाकार, और (सर्वज्ञता आदि) गुणों से युक्त हैं। इस प्रकार कल्पना के आधार पर आप का स्वरूप (भक्तों ने) निश्चित किया है। अथवा आप अनेक प्रकार के प्राणियों की प्रकृति तथा विकृति को दिखाते हुए (चारों ओर) दृष्टिगोचर होते हैं। (इस प्रकार से विद्यमान) आप के ही स्वरूप को नित्य नमस्कार हो।।१२।।

१२*इस श्लोक में दिनपति भगवान् की परिपूर्णता तथा अनविच्छन्नता दिखाई गई है। 'परिपूर्णता' से युक्त उसे कह सकते हैं, जो परिपूर्ण तथा अपूर्ण दोनो ही हो। जो केवल परिपूर्ण हो और अपूर्ण न हो, उस को परिपूर्ण नही कह सकते हैं। परिपूर्णता तथा अनवच्छिन्नता परमात्मा की विश्वाकारता में ही लागू हो सकती हैं। इस लिए स्तोत्रकार ने स्थूल, सूक्ष्म, निर्गुण और सगुण आदि जगद्रूपता से ही प्रभु परमादित्य की स्तुति की है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे परमादित्य चिदर्क! तस्मै तस्मै इति पर-सूक्ष्म-स्थूल-रूपाय विश्वात्मने तुभ्यं नित्यं नमः, सर्वकालं देहादिप्रह्वतया परामृशंसत्वामेव समाविशामीत्यर्थः। कीदृशाय तस्मै? य अनाद्यन्तो देशकालाद्यनवच्छिन्नः, अतनुर् आकारानियन्त्रितः, अतश्च सार्वज्ञादिगुणास्पृष्टः, अणोरत्यन्तसूक्ष्मरूपतया योगि-दृश्यात् परमाणोर्प्यणीयानतिसूक्ष्मः न कस्यापि वेद्यः, अपि तु स्वप्रकाशचिदेक रूपः, न तु देशतः सङ्कुचितः-परमाणोः सूक्ष्मस्य वेद्यत्वाद् दृश्यत्वाच्च, महीयान् व्यापकः, अतश्च विश्वक्रोडीकारित्वाद्विश्वाकारः, सार्वज्ञादिगुणयोगात् सगुणः। इत्येवंप्रकारया कल्पनया कल्पितानि प्रथक् पृथगुल्लि-खितान्यङ्गानि तत्तद्धर्मरूपा अवयवभागा यस्य तादृग् वा-इत्यनयोक्त्या अनवच्छिन्न-वस्तु-विषय-शब्दविकल्पासंस्पृष्टं परमेकं स्वरूपमनवच्छिन्नम् इति ध्वनयति।

नाना भूतानि विचित्राः स्थावरादिब्रह्माण्डान्ताः प्राणिनस्तेषां प्रकृतीर्मायाप्रकृतिशुक्रशोणितादिकारणानि,विकृतीः कला-बुद्धिदेहादिकान् दर्शयन् य आभाति। सङ्कुचित-सर्वाभासोल्लासकतया वा यः स्फुरतीत्यर्थः।।१२।।

१२+ईश्वर के सर्वज्ञता आदि गुण ये हैं -- सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्तशक्तिता।

१२++यहां प्राणियों की प्रकृति से उन के कारणों का अभिप्राय हैं और उन की विकृति का अर्थ है, उन के कार्य।

तत्त्वाख्याने त्वयि मुनिजनाः नेति नेति ब्रुवन्तः
श्रान्ताः सम्यक्त्वमिति न च तैरीदृशो वेति चोक्तः।
तस्मात्तुभ्यं नम* इति वचोमात्रमेवास्मि वच्मि
प्रायो यस्मात्प्रसरति तरां भारती ज्ञानगर्भा।।१३।।

(अन्वय)

मुनि-जनाः त्वयि तत्त्व-आख्याने 'नेति नेति' ब्रुवन्तः श्रान्ताः (भवन्ति)। ईदृशः वा त्वम् (असि) इति च तैः सम्यक् न उक्तः। तस्मात् 'तुभ्यं नमः' इति वचः-मात्रम् एव वच्मि अस्मि, यस्मात् प्रायः (त्वद्-विषया) भारती ज्ञान-गर्भा (सती) तरां प्रसरति ।।१३।।

(शब्दार्थ)

मुनि-जनाः = मुनि जन	**वा** = अथवा
त्वयि = तेरे	**त्वं** = आपका स्वरूप
तत्त्व- } = स्वरूप के	**(असि)** = (है)
आख्याने } विषय में	**इति च** = ऐसा भी
'नेति नेति' = न इति न इति शब्द	**तैः सम्यक्** = उन्हों ने अच्छी तरह से
ब्रुवन्तः = कहते हुये	**न उक्तः** = नही कहा है।
श्रान्ताः = थकते	**तस्मात्** = इस लिये
(भवन्ति) = (हैं)	**'तुभ्यं नमः'** = 'आप को नमस्कार हो'
ईदृशः = इस प्रकार का	

इति वचः-} = इस वाणी	**(त्वद्-विषया)** = (आपके अनुग्रह से)
मात्रम् एव } मात्र का ही	**भारती** = यह वाणी
वच्मि अस्मि, = अवलम्बन करता हूँ,	**ज्ञान-गर्भा }** = ज्ञान-गर्भित
यस्मात् = क्योंकि	**(सती)** } (होकर ही)
प्रायः = यदा तदा	**तरां प्रसरति** = प्रसार करती है।।१३।।

(अनुवाद)

मुनि जन तेरे स्वरूप के विषयमें 'नेति नेति' (न इति न इति) शब्द कहते हुये (व्यर्थ ही) थकते है। 'आप का स्वरूप इस प्रकार का है,' ऐसा भी वे निश्चित रूप से नही कहते। अतः मैं 'तुझे नमस्कार हो' इस वाणी मात्र का ही अवलम्बन करता हूँ, क्योंकि यह वाणी यदा तदा (आपके अनुग्रह से) ज्ञान-गर्भित होकर ही प्रसार करती है अर्थात् सफल होती है।।१३।।

१३*परमात्मा के विषय में तर्कात्मिक बुद्धि अकिंचित्कर है। इसी लिए कवि ने पूर्व ऋषियों के वैज्ञानिक विचारों को एकदम ही तिलाञ्जलि दी है और केवल 'नमस्कार' अर्थात् आत्म -समर्पण के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सुलभ मानी है। वैज्ञानिक विचारों से तो आत्म - प्राप्ति के स्थान पर आत्माभिमान की ही वृद्धि होती है, पर आत्म - समर्पण करने से तो प्राणी शीघ्र ही ईश्वर के अन्तस्तल में सदा के लिए स्थान बना लेता है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

यस्मात् त्वत्तो भारती पश्यन्त्यादिवाक्, ज्ञानगर्भा स्वावभास संवित्प्रधाना, प्रसरति, 'तस्मै तुभ्यं नम' इति वचोमात्रमेव, न त्वतिरिक्तं स्तुतिवाक्यादि वच्मि। ज्ञानस्य सर्ववाक्प्रसरहेतोर् अनवच्छिन्नस्य विभिन्नस्तुतिवाग्भिः स्तोतुम् अशक्यत्वात् नमःशब्देन तु देहादिप्रह्वतां तुरीयकस्वचित्प्रकर्षपरामर्शनस्य कर्तुं शक्यत्वात्। युक्तं चैतत्, यस्मान्मुनयोऽपि त्वयि त्वद्विषये तत्त्वाख्याने-'अणूर्न महान् न ह्रस्वं दीर्घं न' -- इत्यादि ब्रुवन्तः श्रान्ताः क्लिष्टाः। न च तैः 'त्वम् इति एवंविधोऽसि इति एतादृशो वा इति एतत्तुल्यो वा इति' - सम्यग् उक्तः - वागगोचरत्वाद् एव इत्यर्थः।।१३।।

सर्वाङ्गीणः सकलवपुषामन्तरे योऽन्तरात्मा
तिष्ठन्काष्ठे दहन इव नो *दृश्यसे युक्तिशून्यैः।
यश्च प्राणारणिषु नियतैर्मथ्यमानासु सद्भि-
र्दृश्यं ज्योतिर्भवसि परमादित्य तस्मै नमस्ते।।१४।।

(अन्वय)

हे परम-आदित्य! सकल-वपुषाम् अन्तरे यः अन्तर्-आत्मा सर्वाङ्गीणः तिष्ठन् (अस्ति), (सः त्वं) युक्ति-शून्यैः (जनैः) काष्ठे दहनः इव नो दृश्यसे । मथ्यमानासु प्राण-अरणिषु नियतैः (अभ्यास-रतैः) सद्भिः यः च ज्योतिः दृश्यं भवसि तस्मै ते नमः ।।१४।।

(शब्दार्थ)

परमादित्य! = हे (चित् रूपी) सूर्य!
सकल-वपुषाम् = सारे प्राणियों के
अन्तरे = हृदय में
यः = जो
अन्तर्-आत्मा = अन्तरात्मा
सर्वाङ्गीणः = सर्वाङ्गीण बनकर
तिष्ठन् (अस्ति),=ठहरी(हुई है),
(सः त्वं) = (वही तुम)
युक्ति-शून्यैः (जनैः) } = मूर्ख (जनों) को
काष्ठे तिष्ठन् दहनः इव] = अरणि काष्ठ में छिपी अग्नि की भांति
नो दृश्यसे = दिखाई नही देते।
सद्भिः = सज्ञनों को
यः = जो

ज्योतीः = अलौकिक प्रकाश | **मथ्यमानासु** = मथते समय
नियतै = अभ्यासरत होने से | **दृश्यं भवसि** = दिखाई देता है,
प्राण- } = प्राणरूपी | **तस्मै** = उसी प्रकाश स्वरूप
अरणिषु } अरणिकाष्ठ को | **ते नमः**=आपको नमस्कार हो।

(अनुवाद)

हे (चित् रूपी) सूर्य! सारे प्राणियों के हृदय में जो अन्तरात्मा सर्वाङ्गीण बन कर ठहरी हुई है, वही तुम युक्तिशून्य (मूर्ख जनों) को अरणि काष्ठ में (छिपी हूई) अग्नि की भाँति दिखाई नही देते।

१४*क्या कारण है कि परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ भी दृष्टिगोचर नहीं होता? इस प्रश्न का समाधान यों हो सकता है कि ईश्वर का स्वरूप अत्यन्त निर्मल होने के कारण ही दिखाई नहीं देता। एक शैव आचार्य ने कहा है --

'माणिक्यप्रवेक इव निचोलितो निजमयूखलेखया।

प्रतिभाति लोकिकानामत्यन्तस्फुटोऽप्यस्फुट आत्मा ।।'(म० मं०)

अर्थात् माणिक्य आदि रत्न अपनी अति निर्मल किरणों की छटा से आच्छादित होने के कारण दिखाई नहीं देते। इसी प्रकार आत्मा समस्त संसार को अपने उद्दीप्त तथा प्रज्वलित प्रकाश की झलक से प्रकाशित करके भी और अति स्वच्छ होने के कारण स्फुट होने पर भी अस्फुट ही है।

इस के प्रत्युत योगी-जन इस कारण से ईश्वर का अनुभव करते है कि वे अपने अन्तःकरणों को प्राणायाम आदि साधनों से ईश्वर की भान्ति निर्मल बना कर अन्त में उसी में लय हो जाते हैं।

सज्जनों को जो तुम्हारा अलौकिक प्रकाश प्राण रूपी अरणिकाष्ठ को मथते (और सुलगाते) समय दिखाई देता है, उसी प्रकाश स्वरूप तुम को नमस्कार हो ।।१४।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे परमादित्य चिदर्क तस्मै निर्विशेषाय ते तुभ्यं नमः। यस्त्वं स्थावरादिदेवयोयन्तानां रुद्रक्षेत्रज्ञानां च सर्वेषां सर्वाङ्गेषु भवो व्यापकः सकलवपुषामन्तरे मितग्राहकात्मनि स्वरूपे योऽन्तरात्मा परमानन्दत्वात् "आत्मा चैवान्तरात्माच" इति स्वच्छन्दादिष्टपुर्यष्टकप्रमाता तिष्ठन्नवस्थास्नुरपि युक्त्या योगेन शून्यैरपि न दृश्यसे। यथा काष्ठेऽग्निस्तिष्ठन्नपि युक्तिशून्यैररणिमथनानभिज्ञैर्न दृश्यते-तत्काष्ठकवलीकारि ज्वलद्रूपतया नोपलभ्यते। यश्च त्वं प्राणारणिषु सर्ववाहमार्गोदयविश्रान्तिपदेषु, सद्भिर्योगिभिर् नियतैरभियुक्तै-र्मथ्यमानासु -

"ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च अधःशक्तिनिकुञ्चनात्।
रुद्रशक्तिसमावेशं यो जानाति स पण्डितः।।"

इत्याम्नायादिष्टयुक्त्या अनवरतान्दोलनतः प्रशमितमरुद्वया-पिकासु दृश्यं ज्योतिर्भवसि-स्वप्रकाशचिद्रूपः स्फुरसि। अत्र पर्यायेण प्राणापानौ ऊर्ध्वाधरारणिरूपौ, योगिप्रयत्नो मथनकाष्ठम्।।१४।।

***स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति भवान्कर्तृकर्मक्रियात्मा**
क्रीडत्येकस्तव नुतिविधावस्वतन्त्रस्ततोऽहम्।
यद्वा वच्मि प्रणयसुभगं गोपते तच्च तथ्यं
त्वत्तो ह्यन्यत्किमिव जगतां विद्यते तन्मृषा स्यात्
।।१५।।

(अन्वय)

अन्वय -- हे गोपते! भवान् कर्त्त-कर्म-क्रिया-आत्मा (एवं) स्तोता स्तुत्यः स्तितिः इति एकः क्रीडति। ततः अहं तव नुति-विधौ अस्वतन्त्रः (अस्मि) यद्वा (अहं) प्रणय-सुभगं (किञ्चित्) वच्मि, तत् च (अपि) तथ्यम्। हि जगतां (मध्ये) त्वतः अन्यत् इव किं विद्यते। (यदि किञ्चित् अस्ति) तत् मृषा स्यात्।।१५।।

(शब्दार्थ)

(हे गोपते!) = हे चित्रूपी आदित्य!
भवान् = आप
एकः = एक ही
कर्त्त-कर्म-क्रिया-आत्मा } = कर्ता, कर्म और क्रिया का रूप बनकर
स्तोता = स्तुति करने वाले
स्तुत्यः = स्तुत्य देवता, और
स्तुतिः = स्तुति के रूप में
क्रीडति = क्रीडा करते है।
ततः = इस कारण से
अहं = मैं
तव = आपकी
नुति-विधौ = स्तुति करने में
अस्वतन्त्रः(अस्मि)=असमर्थ हूँ

यद्वा (अहं) = या जो (मैं)	**त्वत्तः अन्यत् इव**=आप से भिन्न
प्रणय-] = प्रेम भाव	**किं विद्यते** = कोई वस्तु हो
सुभगम्] से सुन्दर	सकती है।
(किञ्चित्)} = जो कुछ विनती	**(यदि किञ्चित्** } = (यदि है),
तत् च } करूँ उसे (आप)	**अस्ति)** } तो
तथ्यम् } ठीक (समझें)।	**तत्** = वह
हि जगतां] = क्या तीनों	**मृषा** = असत्य
(मध्ये)] लोकों में	**स्यात्** = है।।१५।।

(अनुवाद)

हे चित्रूपी आदित्य! आप एक ही कर्ता, कर्म, और क्रिया का रूप बन कर स्तुति करने वाले, स्तुति देवता और स्तुति के रूप में क्रीडा करते है। इस कारण से मैं आप की स्तुति करने में असमर्थ हूँ। मैं अब प्रेम-भाव से जो कुछ विनती करूँ, उसे (आप) ठीक ही (समझें)। क्या तीनों लोकों में आप से भिन्न कोई वस्तु हो सकती हैं? (कदापि नहीं)। ऐसा (कहना) तो (आकाश में फूल के होने के समान) असत्य है ।।१५।।

१५*ईश्वर वस्तुतः स्तुति-कर्ता, स्तुति-देवता और स्तुति के रूप में ठहरा हुआ है। इसी लिए कवि उस की स्तुति करने में अपने आप को असमर्थ समझता है, पर तो भी वह उस की स्तुति कर रहा है। इस का भी यही कारण है कि ईश्वर स्वयं स्तुति-कर्ता आदि के रूप में ठहरा हुआ है और यह अपने आप को उस से अभिन्न ही मानता है। फिर भला उसकी स्तुति क्यों न करे।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे गोपते चिन्मरीचिचक्रेश्वर! भवानेकोऽद्वितीयः स्तोत्रादिरूपतया क्रीडति स्व-स्वातन्त्र्यात्तत्तद्रूपतया स्फुरति। यदुक्तं मयैव भैरवानुकरणस्तोत्रैः -

"स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति यदपि विभिन्नं न किञ्चिदस्तीह्।
मृशसि यथा यद्रूपं चिद्रूपतया भवस्येतत् ।।इति।।

यतोऽहमिति भवत्कल्पितमेव, ततोऽहमिति सङ्कोचप्रधानो मायाप्रमाता त्वत्स्तोत्रकरणेऽस्वतन्त्रस्त्वामेव चिदात्मानं स्तौमि। न त्वहं नामान्यः कश्चिदित्यर्थः। यच्च किञ्चित् त्वदात्मैवाहं, प्रणयसुभगं प्रार्थनासुन्दरं वच्मि तत्सर्वं तथ्यं त्वत्परमार्थमेव। यतस्त्वत्तश्चिदात्मनो व्यतिरिक्तं जगतां किमिव विद्यते? न किञ्चिदस्ति। यदि वा तथापि किञ्चित्सङ्कल्प्यते तन्मृषा स्यात्, नैव भवेत्। चिदात्मतां विना कस्यचिदपि चेतना च-इति तस्य सङ्कल्पविकल्पविषयत्वस्य अपि अयोगेन गगनकुसुमतोऽपि निकृष्टत्वात्। इत्थं युक्तितस्त्वदभेदसारैव स्तुतिः।।१५।।

प्रातीतिकक्रमेण तु यद्यपि भेदस्तथापीत्थं त्वम् आराध्योऽस्माकमित्याह :--

ज्ञानं नान्तःकरणरहितं विद्यतेऽस्मद्विधानां
त्वं चात्यन्तं सकलकरणागोचरत्वादचिन्त्यः।
ध्यानातीतस्त्वमिति न विना *भक्तियोगेन लभ्य-
स्तस्माद्भक्तिं शरणममृतप्राप्तयेऽहं प्रपन्नः।।१६।।

(अन्वय)

अस्मद्-विधानां ज्ञानम् अन्तःकरण-रहितं न विद्यते। त्वं च सकल-करण-अगोचरत्वात् अत्यन्तम् अचिन्त्यः (असि)। त्वं ध्यान-अतीतः इति भक्ति-योगेन विना न लभ्यः (असि)। तस्मात् अहम् अमृत-प्राप्तये भक्तिम् (एव) शरणं प्रपन्नः (अस्मि)।।१६।।

(शब्दार्थ)

अस्मद्-विधानाम् = हम जैसे (अल्पज्ञ) लोगों का	**अगोचरत्वात्** } के कारण
	अत्यन्तम् = अत्यन्त
ज्ञानम् = ज्ञान	**अचिन्त्यः(असि)**=अचिन्त्य हैं।
अन्तःकरण-}= अन्तःकरण से	**त्वं** = आप
रहितं } रहित होकर	**ध्यान-अतीतः**=ध्यान से परे हैं
न विद्यते=ठहर ही नही सकता	**इति** = इसलिये
त्वं च = और आप	**भक्ति-योगेन विना** = भक्ति योग के विना
सकल- } = सभी इन्द्रयों से	
करण- } अगोचर होने	**न लभ्यः(असि)**=प्राप्त नही होते

तस्मात् = इस लिये	**भक्तिं (एव)** = भक्ति की (ही)
अहम् = मैं	**शरणं** = शरण में
अमृत-प्राप्तये = अमृत की प्राप्ति के लिये	**प्रपन्नः (अस्मि)** = जाता हूँ। ।।१६।।

(अनुवाद)

हम जैसे (अल्पज्ञ) लोगों का ज्ञान अन्तःकरण से रहित होकर ठहर ही नहीं सकता, (अर्थात् मनुष्य का ज्ञान इन्द्रियों पर ही अवलम्बित है)। और आप सभी इन्द्रयों से अगोचर होने के कारण अत्यन्तं अचिन्त्य हैं,(अर्थात् आप अन्तःकरण के द्वारा जाने ही नही जा सकते)। आप ध्यान से परे हैं,(अर्थात् आप का ध्यान भी नहीं किया जा सकता) इसलिये भक्ति योग के विना आप प्राप्त नहीं हो सकते। अतः मैं (मोक्ष रूपी) अमृत की प्राप्ति के लिए (आप की) भक्ति की ही शरण में जाता हूँ, (अर्थात् आप को भक्ति के द्वारा ही रिझाता हूँ) ।।१६।।

१६*इस श्लोक में भक्ति-योग का वास्तविक संकेत आत्म-समर्पण की और है, क्योंकि आत्म-समर्पण करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। इस बात को न जान कर कई योगी-जन ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये व्यर्थ ही अपने पुरुषार्थ का अभिमान करते हैं।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

ऐन्द्रियकज्ञानवतां मायाप्रमातॄणाम् अस्माकम् इन्द्रियागोचरो भवान् अचिन्त्यत्वाद्ध्यानविषयो न भवतीति देहादि-मितप्रमातृतामज्जनोन्मज्जन चिदर्कभजनात्मकभक्तियोग-संपादनीयत्वाद्भगवतो भक्तिमेव शाक्तस्फारावेशमयामृत प्राप्तयेऽस्म्याश्रितः। उक्तं च विज्ञानभैरवे-

"भक्त्युद्रेकाद्विरक्तस्य यादृशी जायते दशा।
सा शक्तिः शाङ्करी नित्यं भावयेत्तां ततः शिवः।। इति।

।।१६।।

***हार्दं हन्ति प्रथममुदिता या तमः संश्रितानां**
सत्त्वोद्रेकात्तदनु च रजः कर्मयोगक्रमेण।
स्वभ्यस्ता च प्रथयतितरां सत्त्वमेव प्रपन्नः
निर्वाणाय व्रजति शमिनां तेऽर्क भक्तिस्त्रयीव।।१७।।

(अन्वय)

हे अर्क! या ते भक्तिः उदिता (सती) प्रथमं संश्रितानां हार्दं तमः हन्ति, तदनु च सत्त्व-उद्रेकात् कर्म-योग-क्रमेण रजः (हन्ति), स्वभ्यस्ता च (सती) सत्त्वम् एव तरां प्रथयति, (एवं सा ते भक्तिः) प्रपन्ना (सती) शमिनां त्रयी इव निर्वाणाय व्रजति ।।१७।।

(शब्दार्थ)

अर्क = (हे) सुर्य!
या ते = आप की जो
भक्तिः = भक्तिः
उदिता = उद्दित्
(सति) = हुई है,
(सा) = वह
प्रथमं = पहले
संश्रितानां = भक्तों के
हार्दम् = हृदय के
तमः = तमोगुण को
हन्ति = नष्ट करती है,
तदनु च = फिर (वह)
सत्त्व- }= सत्त्व गुण की
उद्रेकात् } अधिकता के कारण
कर्म-] = कर्म योग
योग-] द्वारा
क्रमेण]
रजः } = रजोगुण का
हन्ति } नाश करती है,
(ततः) = (तत् पश्चात)

स्वभ्यस्ता } = भली भान्ति | **(भक्तिः)** = (भक्ति)
च (सती) } अभ्यास की गई | **शमिनाम्** = शांतात्मा जनों को
सत्त्वम् एव = सत्त्व गुण को ही | **त्रयी** = तीन वेदों की भांति
तरां प्रथयति = बढ़ाती है। | **निर्वाणाय** = मोक्ष
(एवं सा ते) = (वही आप की) | **वर्जति** = दिलाती है।।१७।।
प्रपन्नः(सति)=अवलम्बित की गई |

(अनुवाद)

(हे) सुर्य! आप की उदित हूई भक्ति पहले भक्तों के तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करती है। फिर (वह) सत्त्वगुण की अधिकता के कारण कर्मयोग द्वारा (उनके) रजोगुण को नष्ट-भ्रष्ट करती है। (तत्पश्चात्) भली भान्ति अभ्यास की गई (वह भक्ति) सत्त्व-गुण को ही बढ़ाती है। वही अवलम्बित की गई आपकी भक्ति शान्तात्मा जनों को, तीन वेदों की भांति, मोक्ष दिलाती है।।१७।।

१७*इस श्लोक में तमोगुण और रजोगुण आन्तरिक अपवित्रता और बाहरी अपवित्रता की ओर संकेत करते है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे अर्क, तव भक्तिः प्रपन्ना समाश्रिता सती शमिनां शान्तरागादिकलङ्कानां निर्वाणाय मोक्षाय व्रजति जीवच्छिवत्वाभिव्यक्तये घटते।

त्रयी यथा। सापि हि काम्यकर्म परिहृत्यानुष्ठीयमाना त्रय्यन्तविदाम् अपवर्गहेतुः। तथा चैषा प्रथममुदिता समुन्मिषितमात्रा हार्दं प्रकाशानन्दात्महृद्भवं तमस्त्वभेदा-ख्यातिरूपमाणवं मलं संश्रितानां भक्तिभाजां हन्ति नाशयति। तदनु सत्त्वस्य प्रकाशस्य उद्रेकात्प्रकर्षात् कर्मयोगक्रमेण स्वात्मदेवताविश्रान्तिफलशारीरकर्मानुष्ठानेन कार्ममलरूपं रजो हन्ति। तथा सुष्ठु अभ्यस्ता परिशीलनेन स्वीकृता, सतो भावः सत्त्वं प्रकाशैकधनत्वमेव प्रकाशमाने सर्वत्र प्रथयतितराम्। न तु पशुवन्मायीयमलात्मभिन्नवेद्यप्रथाकृत्। त्रय्यपि त्रय्यन्तविदां तन्निष्ठानां सत्त्वं प्रथयति।।१७।।

*तामासाद्य श्रियमिव गृहे कामधेनुं प्रवासे
ध्वान्ते भातिं धृतिमिव वने योजने ब्रह्मनाडिम्।
नावं चास्मिन्विषमविषयग्राहसंसारसिन्धौ
गच्छेयं ते परमममृतं यन्न शीतं न चोष्णम्।।
।।१८।।

(अन्वय)

(अहं) तां (भक्तिं) गृहे श्रियम् इव, प्रवासे कामधेनुम् इव, ध्वान्ते भातिम् इव, वने धृतिम् इव, योजने ब्रह्मनाडिम् इव, अस्मिन् विषम-विषय-ग्राह-संसार-सिन्धौ च नावम् इव, आसाद्य ते परमम् अमृतं गच्छेयं यत् न शीतं न च उष्णं (भवति) ।।१८।।

(शब्दार्थ)

(अहम्) = (मैं)
ताम् = आपकी
(भक्तिम्) = (भक्ति को),
गृहे = घर में
श्रियम् इव = लक्ष्मी की भांति,
प्रवासे = विदेश में
कामधेनुं } = कामधेनु
इव } की तरह,
वने = जंगल में
धृतिं इव = धैर्य के समान
योजने = आत्मा को परमात्मा के साथ मिलाने में
ब्रह्मनाडिं इव = सुषुम्ना नाडी के तुल्य
अस्मिन् = इस
विषम- } = भयंकर विषयरूपी
विषय- } ग्राहों
ग्राह- } (मगरमच्छों) से
संसार- } युक्त संसार
सिन्धौ } सागर में

नावम् इव = नौका के समान हैं।	**गच्छेयम्** = प्राप्त हो जाऊँ
	यत् = जो
तां } = (उसी भक्ति का)	**न** = न
आसाद्य } आश्रय लेकर	**शीतम्** = सर्द है
ते = आपके	**न** = न ही
परमं = परम	**उष्णम्** = गरम
अमृतम् = अमृत को	**(भवति)** = है।।१८।।

(अनुवाद)

(आपकी भक्ति) घर में लक्ष्मी की भान्ति, विदेश में कामधेनु की नाई, (घने) अन्धकार में प्रकाश की झलक जैसी, जंगल में धैर्य के समान, परमात्मा से मिलाने में सुषुम्ना नाडी के तुल्य और भयंकर

१८*इस श्लोक में कवि ने भक्ति का सर्वतोमुखी महत्व दिखलाने के लिए इस की कई सुन्दर उपमायें दी हैं। इसे (अर्थात् भक्ति को) शून्य गृह में लक्ष्मी के समान कहा गया हे, क्योंकि यह प्रत्येक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती है। यह विचार-मात्र से ही शीघ्र फल देती है, इसलिए यह विदेश में कामधेनु के समान है। यह सूर्य आदि तेजधारियों के प्रकाश की भी प्रकाशिका होने के कारण प्रभा के समान है। यह वन में धैर्य के तुल्य हे, क्योंकि इस से विश्रान्ति मिलती है। यह भक्त को परम-शिव से मिलाती है, इस लिए सुषुम्णा नाडी जैसी हे। यह इस असार संसार-सागर के पार जाने में सहायता देती है अतः इसे नौका के समान कहा गया है।

विषय रूपी ग्राहों से युक्त इस संसार-सागर में नौका के समान हैं। उसी (भक्ति) का आश्रय लेकर आप के (उस) परम अमृत को प्राप्त हो जाऊँ, जो शीतोष्ण-भाव से रहित है।।१८।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

तां भक्तिमाश्रित्य चिदर्कस्य ते सम्बन्धि परमममृतं परं शाक्तं धामगच्छेयं समाविशेयम्। यच्छैशिरग्रैष्मबाह्यार्कधाम वैलक्षण्याच्छीतमुष्णं च न भवति, अपि तु मोहदाहप्रकाशाह्लादकृदग्नीषोमात्म।

कीदृशीं ताम्? गृहे शून्ये वेश्मनि श्रियमिव-सम्पूर्णभोगप्रदत्वात्; प्रवासे रिक्तबन्धुदेशे कामधेनुमिव-चिन्तितमात्राभीष्ट फल प्रदत्वात्; ध्वान्ते गाढतमसि भातिमिव-पूर्णप्रथाहेतुत्वात्; वने गहनपर्वतादौ धृतिमिव--विश्रान्तिहेतुत्वात्; योजने परशिवात्मैक्यावेशे ब्रह्मनाडिं सुषुम्नाम् (इव) - परमोपायत्वात्; विषमविषया एव ग्राहा भीषणा जलचरा यत्र तादृशे संसारसमुद्रे नावमिव--उत्तारकत्वात्।।१८।।

अग्नीषोमावखिलजगतः कारणं तौ मयूखैः
सर्गादाने सृजसि भगवन्ह्रासवृद्धिक्रमेण।
तावेवान्तर्विषुवति* समौ जुह्वतामात्मवह्नौ
द्वावप्यस्तं नयसि युगपन्मुक्तये भक्तिभाजाम्।।
।।१९।।

(अन्वय)

हे भगवन्! (त्वम्) अखिल-जगतः कारणं तौ अग्नि-सोमौ मयूखैः ह्रास-वृद्धि-क्रमेण सर्गादाने (सर्ग-आदान-निमित्तं) सृजसि। (तथा) अन्तर् विषवति आत्म-वह्नौ समौ जुह्वतां भक्ति-भाजां मुक्तये तौ द्वौ अपि एव युगपत् अस्तं नयसि।।१९।।

(शब्दार्थ)

भगवन्! = हे भगवन्!
(त्वम्) = (आप)
अखिल-जगतः=सारे जगत के
कारणं = कारण हैं।
तौ = आप
अग्नि-सोमौ = प्राण और अपान
मयूखैः = अपनी चिद्रूप किरणों द्वारा
ह्रास-वृद्धि-क्रमेण = घटाने तथा बडाने के क्रम से
सर्गादाने=बाहर निकालने तथा भीतर ले जाने के निमित्त
सृजसि = उत्पन्न करते हैं।
(तथा) = (फिर)
अन्तर=हृदयाकाश में (प्रवर्तित्)
विषुवति = विषुवत्कालात्मक
आत्मवह्नौ = आत्माग्नि में
समौ = साम्य भाव से
जुह्वतां = समर्पित करते हैं
भक्ति-भाजाम् = भक्तों को

मुक्तये = मुक्ति दिलाने हेतु	**युगपत** = एक ही समय
तौ द्वौ अपि = (आप इन) दोनो - प्राणापान को	**अस्तं नय** = लय करते हैं। ।।१९।।

(अनुवाद)

हे भगवन्! प्राण और अपान सारे जगत के कारण हैं। आप इन को (अपनी चिद्रूप) किरणों के द्वारा घटाने तथा बढाने के क्रम से बाहर निकालने और भीतर ले जाने के निमित्त उत्पन्न करते हैं। भक्त-जन इन को हृदयाकाश में प्रवर्तित् विषुवत्कालात्मक आत्माग्नि में साम्य भाव से समर्पित करते हैं। फिर उन भक्तों को मुक्ति दिलाने के लिए आप इन दोनों (अर्थात् प्राण और अपान) को एक ही समय में लय करते हैं। (जिस के फल-स्वरूप वे भक्त आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं)।।१९।।

१९*जिस हृदयाकाश से प्राणों की वृत्ति बाहर निकलती है, अर्थात् जहां से श्वास बाहर आना प्रारम्भ करता है, उसे अन्तःतुटि कहते है। जिस बाहिरी आकाश से अपान-वृत्ति भीतर जाने का प्रयत्न करती है, उसे बाह्य-तुटि कहते है। अन्तःतुटि और बाह्य-तुटि का जो समय-विशेष हे, उसे 'विषुवत् कालांश' कहते है। योगी-जन इस का अवलम्बन् करने पर समस्त संसार की वृत्तियों को लय करते हैं।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन्! अखिलस्य बाह्यस्य नीलसुखादेर्ग्राह्यरूपस्य, आन्तरस्य च ग्राहकरूपस्य देहादेर्जगतो यावग्नीषोमौ सर्ववाहवाही प्राणोऽपानश्च प्रकाशन-अवस्थान-हेतुत्त्वात् कारणम्। तौ प्रसिसृक्षा-प्रविविक्षात्म-सर्ग-आदान-समये वस्त्वा-भासनविमर्शात्म-सृष्ट्यादौ, तन्निमितञ्च, ह्रासवृद्धिक्रमेण द्वादश-षोडशकला-कलनपर्यायतो मयूखैः सृष्ट्यादि देव्यात्मनिजमरीचिभिः सृजसि मुहुर्मुहुर्निर्मिमीषे। तावेव च भक्तिभाजामन्तर्विषुवति सम्यङ् नयनात्मसमानमरुत्प्रधाने कुम्भके, समौ सोमसूर्यकलान्योन्यसंधर्षमिश्रितौ सन्तावात्म ह्वावुदानवह्नौ जूह्वतां, मुक्तये शिवात्मभेदप्रथारूपाणवादि-मलत्रय-प्लुष्टो-पलक्षितशिवाद्वैतप्राप्तये, द्वावपि युगपत्क्रमं मयूखैरेवास्तं नयसि विश्वात्मकव्यानव्याप्तिमाविश्य ज्ञानक्रियात्मपराग्नीषोमरूपस्वात्ममयौ संपादयसि।।१९।।

स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं नैव लक्ष्यं ह्यनन्तं
सूक्ष्मत्वं वा तदपि सदसद्व्यक्त्यभावादचिन्त्यम्।
ध्यायामीत्थं कथमविदितं त्वामनाद्यन्तमन्त-
स्तस्मादर्क प्रणयिनि मयि स्वात्मनैव* प्रसीद।।
।।२०।।

(अन्वय)

हे अर्क! ते स्थूलत्वं प्रकृति-गहनम्, हि अनन्तं नैव लक्ष्यम्। (यत्) वा (ते) सूक्ष्मत्वं, तत् अपि सत्-असत्-व्यक्ति-अभावात् अचिन्त्यम् (अस्ति) इत्थम् अन-आदि-अन्तम् अविदितं त्वां कथम् अन्तर् ध्यायामि। तस्मात् प्रणयिनि मयि स्वात्मना एव प्रसीद।।२०।।

(शब्दार्थ)

अर्क! = हे सूर्य भगवान्!
ते = आपकी
स्थूलत्वं = स्थूलता
प्रकृति- } = स्वाभाविक रूप
गहनम् } से ही गूढ है।
हि = क्योंकि
अनन्तं =अनन्त होने के कारण
नैव लक्ष्यम् = अदृश्य है
(यत्) } = (आपके
वा (ते) } स्वरूप की)
सूक्ष्मत्वं = जो सूक्ष्मता है,
तत् अपि = वह भी
सत्- } = सद्व्यक्ति असद्व्यक्ति
असत्- } (साकार और
व्यक्ति } निराकार रूप से)
अभावात् =परे होने के कारण

अन्त्यम्(अस्ति)=अचिन्त्य है।	**अन्तर** = हृदय में
इत्थं = इस प्रकार	**ध्यायामि** = ध्यान कर सकूं।
अन्-आदि-} = आदि तथा	**तस्मात्** = इसलिये
अन्तम् } अन्त रहित	**प्रणयिनि** } = प्रार्थना करने
अविदितम्] = आप अज्ञात्	**मयि** } वाले मुझपर
त्वाम्] स्वरूप का	**स्वात्मना एव** = स्वयं ही
कथम् = कैसे	**प्रसीद**=प्रसन्न हो जायें।।२०।।

(अनुवाद)

हे सूर्य भगवान्! आपकी स्थूलता स्वाभाविक रूप से ही गूढ अर्थात् अगम्य है, क्योंकि (यह) अनन्त होने के कारण अदृश्य है। (आपके स्वरूप की) जो सूक्ष्मता है, वह भी सद्व्यक्ति और असद्व्यक्ति (अर्थात् साकार और निराकार रूप) से परे होने के कारण अचिन्त्य है। इस प्रकार मैं आप के आदि और अन्त से रहित तथा (सर्वथा) अज्ञात् स्वरूप का ध्यान हृदय में कैसे कर सकूं? इस लिए प्रार्थना करने वाले मुझ पर आप स्वयं प्रसन्न हो जायें।।२०।।

२०*वास्तव में यह कथन अक्षरशः सत्य है कि ईश्वर ही यदि किसी पर स्वयं प्रसन्न हों, तभी उस की प्राप्ति सुलभ हो सकती है। उस के अनुग्रह के बिना मानवीय पुरुषकार सीमित होने के कारण सर्वथा व्यर्थ तथा अकिञ्चित्कर है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे अर्क, ते तव स्थूलत्वं विश्वव्यापकत्वं प्रकृत्या गहनत्वान् नैव लक्षयितुं शक्यं यस्मादनन्तं दिक्कालाकारैरनवच्छिन्नम्। सूक्ष्मत्वमपि वा "अणोरणीयान्" इत्येतद्व्याख्यानावसर-व्याकृतयुक्त्या परप्रमात्रात्म यत्, तदपि सदसद्व्यक्त्यभावाद भावाभावरूपत्वेन अप्रतीतेरचिन्त्यम्। तदित्थमनाद्यन्त-त्वादविदितं त्वां कथमन्तः स्वान्ते चिन्तयामि? न कथञ्चित्। तस्मान्मयि प्रणयिनि त्वत्प्रार्थनावहिते स्वयमेव प्रसीद प्रशमित-देहादि-प्रमातृताभिमान-कालुष्यः प्रस्फुर।।२०।।

यत्तद्वेद्यं किमपि परमं शब्दतत्त्वं त्वमन्त-
स्तत्सद्व्यक्तिं जिगमिषु शनैर्लाति *मात्रा कलाः खे।
अव्यक्तेन प्रणववपुषा बिन्दुनादोदितं स-
च्छब्दब्रह्मोच्चरति करणव्यञ्जितं वाचकं ते।।२१।।

(अन्वय)

यत् किमपि त्वम्, तत्-अन्तर् परमं शब्द-तत्त्वं वेद्यम्। तत् सत्-व्यक्तिं जिगमिषु मात्रा-कलाः अव्यक्तेन प्रणव-वपुषा खे शनैः लाति। (ततोऽपि) बिन्दु-नाद-उदितं करण-व्यञ्जितं ते वाचकं सत्-शब्द-ब्रह्म (स्वयम्) उच्चरति ।।२१।।

(शब्दार्थ)

यत् = जो (परा वाणी के रूप में वर्णों आदि के विभाग रहित)	**तत्** = वह
किमपि = असामान्य तथा उत्कृष्ट (आपका)	**सत्-व्यक्तिम्** = साकारता को
त्वं = स्वरूप है	**जिगमिषु** = ग्रहण करने की इच्छा करता है;
तत्-अन्तर = उसके अन्तर्गत	**मात्रा कलाः** = अकार आदि मात्रा रूपिणि कलाओं को
परमं = उत्कृष्ट	**अव्यक्तेन** = अव्यक्त
शब्द-तत्त्वम् = शब्दों का उदय-स्थान	**प्रणव- वपुषा** = (पश्यन्ती वाणी के रूप में) ओंकार के रूप में
वेद्यम् = जानने योग्य है।	**शनै** = धीरे धीरे

खे = चिदाकाश में
लाति = ग्रहण करता है
(ततोऽपि) = (फिर)
बिन्दु-नाद-} = बिन्दु-नाद से
उदितम् } निकला हुआ
करण-] = दिव्य करण-बन्ध
व्यञ्जितं] से प्रकट बना और

ते वाचकम् = आपके स्वरूप का बोधक
सत्-शब्द-ब्रह्म=सत् शब्द ब्रह्म
(स्वयं) = (स्वयं ही)
उच्चरति = उच्चरित होता है।
।।२१।।

(अनुवाद)

(परा वाणी के रूप में, वर्णों आदि के विभाग से रहित) जो आप का असामान्य और उत्कृष्ट स्वरूप हे, उस के अन्तर्गत शब्द-तत्त्व (अर्थात् समस्त शब्दों का उदय-स्थान) जानने योग्य है। वह

२१* अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ।।
शक्तिश्च व्यपिनी चैव समनैकादशी स्मृता ।
उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ।।

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना - प्रणव की इन ग्यारह मात्राओं को जब योगी चिदाकाश में लय करता हे, तब उस की 'उन्मना' नामक बारहवि मात्रा अव्यक्त ओंकार के रूप में प्रकट होती है। इस अवस्था का अनुभव योगी-जन 'दिव्य-करण-बन्ध' से भली भांति कर सकते हैं। 'दिव्य-करण-बन्ध' किसे कहते हें, इस का निर्णय पचासवें श्लोक की टीका में किया जाएगा। इन ग्यारह मात्राओं का अर्थ विस्तार-मय से नही लिखा जाता है।

(शब्द-तत्त्व) सद्व्यक्ति (अर्थात् साकारता) को ग्रहन करने की इच्छा करता है। (फिर वह) चिदाकाश में ही (अकार आदि) मात्रा रूपिणि कलाओं अर्थात् शक्तियों को अव्यक्त ओंकार (अर्थात् पश्यन्ती वाणी) के रूप में धीरे धीरे ग्रहण करता है। (और) बिन्दु-नाद (अर्थात् प्रकाश और विमर्श) से निकला हुआ, दिव्य-करण-बन्ध से प्रकट बना हुआ और आप के स्वरूप का बोधक सत्-शब्द-ब्रह्म स्वयं उच्चरित होता है।।२१।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

यत्किमप्यसामान्यं त्वं, तदन्तरित्यन्तर्मुखानवच्छिन्न प्रकाशात्मनि पदे, शब्दतत्त्वमिति-"शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः" इति श्रीस्वच्छन्दादिष्टानाहत-भट्टारकरूपं, परममिति परमोत्कृष्टं। यदुक्तं श्रीकालोत्तरे--

"नादाख्यं यत्परं बीजम्" इति, वेद्यमिति सुप्रकटसुस्फुरत्तात्मकत्वादनपह्नवनीयं, न तु विदि क्रिया कर्मात्मकम्, यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे--"यस्य रूपं शरीरं वा नास्ति वर्णः क्रिया तथा। स कथं गृह्यते सूक्ष्मो ह्यग्राह्यो नित्यमव्ययः।।" श्रीभर्गशिखायामपि--

"नैष वर्णो न वा शब्दो न चैवायं कलात्मकः।
केवलः परमानन्दो वीरो नित्योदितो रविः।।
नास्तमेति न चोदेति न शान्तो न विकारवान्।
सर्वभूतान्तरचरो भानुर्भर्ग इति स्मृतः।।"

तदेतत्परब्रह्मात्म शक्तिमद्रूपम् । सद्यक्तिं जिगमिष्विति --

"ओं तत्सदिति निर्देशो ब्राह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।"

इति स्थित्या शक्त्यात्मब्रह्मरूपतां जिघृक्षुः, खे सुषुम्नाधाम्नि, अकारोकारमकारादिमात्रारूपाः कला विमर्शशक्तीः, शनैः शनैः क्रमेण लाति ग्राह्णाति। इत्थं शक्तिमत्-चिद्-अर्क-अवभासित-शब्दब्रह्मभित्तौ, प्रणववपुषा ओंकारात्मना, अव्यक्तेन पश्यन्ती-वाक्प्रधानेन रूपेण, न तु व्यक्तेन मध्यमादि वाग्भूमिकास्पृशा, "प्रणवः सर्ववेदेषु...........।"

इति स्थित्या क्रोडीकृताशेषवाच्यवाचकस्फारं शब्दब्रह्मोच्चरति स्वयं प्रवर्तते, नतूच्चार्यते।

कीदृक्?

बिन्दु-नादाभ्यां समस्तवेद्याभेदिवेदनसमस्तवाचकाभेदिपरामर्श रूपाभ्यामुदितम्।

सर्वोत्कृष्टगगनारूढं सत्कथं समुच्चरति? अत्र आगमिकीं युक्तिं स्मारयति - करणेन दिव्यकरणबन्धेन, न तु जिह्वामूल-मध्यादिना व्यञ्जितं प्रकटीकृतम्। यदुक्तं श्रीस्वच्छन्दे--

"दिव्यं तु करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं कुरु" इत्यादि।

यच्चैतत् शब्दब्रह्मतत्त्वशक्तिस्वरूपामर्शनमुखेनैव ते वाचकं तत्स्वरूपामर्शकम्।।२१।।

***प्रातःसंध्यारुणकिरणभागृङ्मयं राजसं य-**
न्मध्ये चापि ज्वलदिव यजुः शुक्लभाः सात्त्विकं वा।
सायं सामास्तमितकिरणं यत्तमोल्लासि रूपं
साह्नः सर्गस्थितिलयविधावाकृतिस्ते त्रयीव।।२२।।

(अन्वय)

प्रातः-संध्या-अरुण-किरण-भाक् ऋङ्मयं यत् ते राजसं रूपम्, मध्ये च अपि ज्वलत् इव शुक्ल-भाः यजुः (यत् ते) सात्त्विकं (रूपम्), सायम् अस्तमित-किरणं साम यत् वा ते तम-उल्लासि-रूपम् (अस्ति), सा ते अह्नः आकृतिः (जगतः) सर्ग-स्थिति-लय-विधौ त्रयी इव (अस्ति) ।।२२।।

(शब्दार्थ)

प्रातः = प्रातः कालिक	**वा** = और
संध्या = संध्या की	**शुक्ल-भाः**=श्वेत किरणों से युक्त
अरुण = लालिमा से युक्त	**(यत् ते)** = (जो आपका)
किरण-] = किरणों को धारण	**सात्त्विकं** }= यजुर्वेद मय
भाक्] करने वाला	**युजः(रूपं)**} सात्त्विक रूप है;
यत् ते }= जो आप का	**सायं** = सायं कालीन
ऋङ्मयमं } ऋग्वेदमय	**अस्तमित-**} = अस्त होती हुई
राजसं रूपं } राजस रूप है	**किरणं** } किरणों से युक्त
मध्ये-अपि-] = मध्याह्नकाल	**यत् ते** = जो आप का
ज्वलत् इव] की प्रज्वलित	**साम-वेद** = सामवेद मय

तम-उल्लासि } = तामस	**सर्ग-स्थिति-**} = सृष्टि, स्थिति
रूपं (अस्ति) } रूप है;	**लय-विधौ** } और संहार
सा ते = वही आप की	करने में
अह्नः आकृतिः=दिन रूपी मूर्ति	**त्रयी इव** = वेद त्रयी के समान
(जगतः) = (सारे संसार की)	**(अस्ति)** = है।।२२।।

(अनुवाद)

प्रातः कालिक संध्या की लालिमा से युक्त किरणों को धारण करने वाला जो आप का ऋग्वेद-मय राजस रूप है, मध्याह्न-काल की प्रज्वलित और श्वेत किरणों से युक्त जो आपका यजुर्वेद मय सात्त्विक (रूप) है और अस्ताचल की ओर प्रयाण करती हुई सायं कालीन किरणों से युक्त जो आप का सामवेद मय तामस

२२*वास्तव में जिन तीन संध्याओं का यहां उल्लेख हुआ है, वे आन्तरिक संध्यायें ही है। इन का बोध गूरु-मुख से ही भली भान्ति हो सकता है। तथापि इन के विषय में केवल सांकेतिक रूप में कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं :-

प्राण रूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति के तीन निर्विकल्प-स्थान लक्ष्य करने योग्य हैं। वे हृदय, तालु और बाह्य-द्वादशान्त में स्थित होते हैं। जब यह (अर्थात् प्राण रूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति) हृदय के स्थान-विशेष से प्रस्थान करती है, तो उस समय-विशेष को 'प्राभातिक संध्या' कहते हैं। जब यह तालु के स्थान में से निकलती है, तो उस समय-विशेष को 'माध्याह्निक संध्या' कहते हैं। और जब यह बाह्य-द्वादशान्त के स्थान को पहुंचती है, तो उस समय-विशेष को 'सायं-कालीन संध्या' कहते हैं।

(रूप) है, वही (अर्थात् इन तीनों रूपों को धारण करने वाली) आप की दिन रूपीणी मूर्ति (सारे संसार की) सृष्टि, स्थिति और संहार करने में वेद त्रयी के समान है।।२२।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवंश्चिदर्क, अह्नः सार्वजनीनस्य प्राणदिनस्य सर्ग-स्थितिलयविधौ, ते सम्बन्धिनी साकृतिः क्रोडीकृताशेष-सृष्टयादिस्तुर्याख्या शक्तिर्विजृम्भत इत्यर्थः।

का सा? इत्याह--

प्रातः हृदन्मेषात्मनि प्रभाते गुणीभूत- प्राणापानवृत्तिः शिव-शक्ति-संघट्टात्मा या सन्ध्या तत्र येऽरुणकिरणा अनुन्मिषितवैचित्र्याद्दीप्ताः शरीरादयश्चक्षुरादि प्रकाशाः (शरीराश्चक्षुरादिप्रकाशाः?) तान् भजते यदत एव राजसं विश्वराजानं विश्वप्रसरासूत्रणं च ऋङ्मयम्। यञ्च परधामामर्शनात्मा स्तुतिकञ्च।

मध्ये मध्यधाम्नि, यजुश्चिद्देवतापूजात्मक्रियाशक्तिप्रधानं, द्वैतेन्धनप्लोषादिव ज्वलत्, ह्लादात्मसोमव्याप्ति-उन्मज्जनात् शुक्लभा अमलमात्मभास्वरूपं, सात्त्विकञ्च सतां भावः सत्त्वं प्रकाशमानत्वं तस्येदं सम्पादकं-स्वप्रकाशावेशेन विश्वप्रकाशकं इत्यर्थः।

सायमूर्ध्वतुटयर्धेऽस्तामितकिरणं गलितप्राणादिसंस्कारक्षयात् प्रशान्तसितोज्वलितमरीचि निचयम्, अतश्च निःसंस्कारद्वैताद्वैतकवलनात् तदपेक्षयैव तमोवस्तुविश्रान्तयैकरसत्वात् साम।

एतत्+त्रिविधं स्थूल-सूक्ष्म-पर-स्वरूपं यल्लासि गृहणसि सा तवाकृतिस्त्रयीव ऋग्यजुःसामानीव। तथाहि-प्रातरर्क-देवता-स्तुतिप्रधाना ऋग्वेद व्याप्तिः। मध्ये कर्मानुष्ठानात्मा यजुर्वेदोदयः। सायं विश्रान्तिहेतुगीतप्रधाना सामवेदप्रधानतेति प्रतिदिनं स्थितिः।

ये *पातालोदधिमुनिनगद्वीपलोकाधिबीज-
च्छन्दोभूतस्वरमुखनदत्सप्तसप्तिं प्रपन्नाः।
ये चैकाश्वं निरवयववाग्भावमात्राधिरूढं
ते त्वामेव स्वरगुणकलावर्जितं यान्त्यनश्वम् +।।
।।२३।।

(अन्वय)

ये पाताल-उदधि-मुनि-नग-द्वीप-लोक-आधि-बीज-छन्दस्-भूत-स्वर-मुख-नदत सप्त-सप्तिं प्रपन्नाः, ये च निर्-अवयव-बाग्-भाव-मात्र-अधिरूढम् एक-अश्वं (त्वां प्रपन्नाः), ते स्वर-गुण-कला- वर्जितम् अन्-अश्वं त्वाम् एव यान्ति ।।२३।।

(शब्दार्थ)

ये = जो (लोग)
पाताल = सात पातालों
उदधि = सात समुद्रों
मुनि = सात ऋषियों
नग = सात पर्वतों
द्वीप = सात द्वीपों
लोक = सात लोकों
आधि = सात आधियों
बीज = सात बीजों
छन्दस् भूत = सात छन्दों से

| **स्वर-मुख-**] = सात स्वरों से
| **नदत्**]शब्दायमान बने हुए
| **सप्त-** } = आप के सात घोडों
| **सप्तिं** } वाले स्वरूप की
| **प्रपन्नाः** = शरण में जाते हैं।
| **च ये** = और जो
| **निर-अवयव-**} = अवयवों से
| **वाग्-भाव-** } रहित पश्यन्ती
| **मात्र-** } वाणी में
|**अधिरूढम्** } स्थित् (और)

एक-अश्वं = एक ही घोडे से युक्त

(त्वां प्रपन्नाः) = (आप का आश्रय लेते हैं)।

ते = वे

स्वर-गुण- } = स्वर-गुण-

कला-वर्दितं } कला से मुक्त

अन-अश्वं = घोडों की उपाधि रहित

त्वां एव} = आप के स्वरूप

यान्ति } को ही प्राप्त होते हैं।

।।२३।।

(अनुवाद)

जो लोग (अतल आदि सात) पातालों, (क्षीर आदि सात) समुद्रों, (अत्रि आदि सात) ऋषियों, (महेन्द्र आदि सात) पर्वतों, (जम्बु आदि सात) द्वीपों, (भूः आदि सात) लोकों, (मोह आदि सात) आधियों, (जौ आदि सात) बीजों, (गायत्री आदि सात) छन्दों और (षड्ज आदि सात) स्वरों से शब्दायमान बने हुए आप के (पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि रूपी) सात घोडों वाले स्वरूप (अर्थात् चित्सूर्य के साकार रूप) की शरण में जाते हैं और जो अवयवों से रहित 'पश्यन्ती' वाणी में स्थित् और एक ही घोडे से युक्त आप के स्वरूप (अर्थात् निराकार रूप) का आश्रय लेते हैं, वे दोनों (प्रकार के लोग) घोडों की उपाधि से रहित तथा स्वरों, गुणों और कलाओं से मुक्त आप के स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं।।२३।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

अतलादीनि सप्त पातालानि, क्षीराद्याः स्सोदधयः, अत्र्याद्याः सप्त मुनयः, महेन्द्राद्याः सप्त पर्वताः, जम्बादीनि सप्त द्वीपानि, भूराद्याः सप्त लोकाः।

"मोहो मदश्च गर्वश्च विषादः क्रोध एव च।
भयं च हर्षणं चैव देहे सप्ताधयः स्मृताः।।"

इत्युक्ता मोहाद्याः सप्ताधयः, यवादीनि सप्त बीजानि, गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि, भूताः प्राप्ताः -- एतदामार्शत्वात् ईदृग्विश्वप्रपञ्चरूपा, ये षड्जाद्याः सप्त स्वरास्ते मुखेषु येषां ते तन्मुखास्तानेवार्थान्नदन्तो ध्वनन्तः सप्त सप्तयो मनोबुद्धीन्द्रियात्मा नोऽश्वा यस्य तादृशं त्वां प्रपन्नाः।

ये च निरवयवा वाक् पश्यनती तस्या भावः सत्ता तन्मात्राधिरूढं मध्य- धामोन्मिषत्पश्यन्त्यामर्शपरिमर्शितम्

२३*सात पातालों, समुद्रों आदि के नाम नीचे दिये जाते है:-

(१). पद्मपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये है:-

अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ।

विष्णुपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये है:-

अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल और पाताल।

अग्निपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये है:-

अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमान्, महातल, रसातल औ पाताल।

(२). सात समुद्रों के नाम ये हैं :-

क्षीर, दधि, सर्पि, इक्षिरस, मदिरा, स्वादधू और क्षार ।

(३). शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार सात ऋषियों के नाम ये है :-

गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, यमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि ।

अत्श्चैकाश्वं च त्वां बुद्ध्वा ये प्रपन्नाः। उभयेऽपि ते त्वामेवानश्वं चिदर्कं परं ब्रह्म यान्ति त्वदेकतामाप्नुवन्ति।

कीदृशम्?

स्वरैः षड्जादिभिः, गुणैः सत्त्वादिभिः, कलाभिरकारादिभिर्वर्जितं निरुपाधिप्रकाशानन्दघनम्।

साश्वोपासनानश्वप्राप्तिहेतुरिति विरोधाभासः।

महाभारत के अनुसार सात ऋषियों के नाम ये है :-

अत्रि, मरीचि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ ।

(४). सात पर्वतों के नाम ये है:-

महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, ऋक्ष, विन्ध्य और पारिपात्र ।

(५). सात द्वीपों के नाम ये है :-

जम्बु, कुश, शाक, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेध और पुष्कर।

(६). सात लोकों के नाम ये है :-

भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ।

(७). सात आधियों के नाम ये है :-

मोह, मद, गर्व, विषाद, क्रोध, भय और हर्ष ।

(८). सात बीजो के नाम ये हैं :-

जौ, शाली, माष, तिल, मूंग, कनक और मसूर ।

(९). सात छन्दों के नाम ये है :-

गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टप् और जगती ।

(१०). सात स्वरों के नाम ये है :-

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ।

२३+यहां यह विरोधाभास दिखाया गया है कि चित्सूर्य का भक्त इस के घोडों से युक्त रूप की शरण में जाने से उस के अश्व-रहित रूप को प्राप्त होता है, अर्थात् अश्वता का भजन करने से अनश्वता को प्राप्त होता है। उस की भक्ति के फल की इसी अलौकिकता की ओर यहां संकेत है।

दिव्यं ज्योतिःसलिलपवनैः पूरयित्वा त्रिलोकी-
मेकीभूतं पुनरपि च तत्सारमादाय गोभिः।
अन्तर्लीनो विशसि वसुधां तद्गतः सूयसेऽन्नं
तच्च प्राणांस्त्वमिति जगतां*प्राणभृत्सूर्य आत्मा।।
।।२४।।

(अन्वय)

(हे भानो ! त्वं) त्रिलोकीं ज्योतिः-सलिल-पवनैः पूरयित्वा, एकी-भूतं तत् दिव्यं सारं गोभिः आदाय, पुनर् अपि अन्तर्-लीनः (भूत्वा) वसुधां विशसि। (ततः) तत्-गतः (सन्) अन्नं सूयसे, तत् च (अन्नं) प्राणान् (सूयते), इति त्वं जगतां प्राण-भृत् सूर्यः आत्मा (असि) ।।२४।।

(शब्दार्थ)

(हे भानो! त्वम्) = (हे चित् सूर्य! आप)
त्रिलोकीम् = तीनों लोकों को
ज्योतिः-सलिल-पवनैः = अग्नि, जल और वायु से
पूरयित्वा = तृप्त करते हैं।
एकी-भूतम् = एकत्र हुये
तत् दिव्यं=(उस) अलौकिक
सारम् = सार को
गोभिः = चिद्रश्मियों के द्वारा
आदाय = ग्रहण करके
पुनर-अपि = पुनः
अन्तर लीनाः = अन्तर्मुख
(भूत्वा) = (होकर)
वसुधां = पृथ्वी में
विशसि = प्रवेश करते हैं।
तत्-गतः (सन) = उसमें प्रविष्ट होकर

अन्नं सुयसे = अन्न को उत्पन्न करते है।	**त्वम्** = आप
	जगतां = सारे जगत के
तत् च (अन्नं) = वह (अन्न)	**प्राण-भृत** = प्राण-पोषक
प्राणान् } = प्राणों को	**सूर्यः** = सूर्य
(सुयते) } उत्पन्न करता है।	**आत्मा** = (और) परमात्मा
इति = इस प्रकार	**असि**=कहलाने योग्य हैं।।२४।।

(अनुवाद)

(हे चित् सूर्य!) आप तीनों लोकों को अग्नि, जल और वायु से तृप्त करते हैं । (फिर उन के) एकत्र हुए अलौकिक सार को चिद्रश्मियों के द्वारा ग्रहण करके तथा अन्तर्मुख होकर (परा भूमि रूपिणी) पृथ्वी में प्रवेश करते हैं। उस में प्रविष्ट होकर आप (आनन्द रूपी) अन्न को उत्पन्न करते है । वह अन्न प्राणों को उत्पन्न करता है । इस प्रकार आप सारे जगत के प्राण-पोषक, सूर्य और परमात्मा (कहलाये जाने योग्य हैं) ।।२४।।

२४* बाह्य सूर्य भी आत्मिक सूर्य की भान्ति 'भूर्भुवः स्वः' नामक तीनों लोकों को समय समय पर प्रकाश (अर्थात् अग्नि), जल तथा वायु के द्वारा तृप्त करता है। तदनन्तर इन से एकत्र हुए रसरूप सार को ग्रीष्म-आदि ऋतुओं में अपनी किरणों के द्वारा पृथ्वी से आकर्षित करता है और वर्षा के रूप में उस रस को भूमि पर बहा कर अन्न आदि खाद्य पदार्थों से प्राणि-मात्र की रक्षा करता है। अतः बाह्य सूर्य को भी 'प्राण-पोषक' की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन्, त्वं ज्योतिः_सलिल-पवनैः, चित्प्रकाशकरन्ध्रप्रविशच्छाक्तामृत-प्राणमरुद्भिस्त्रिलोकीं जागर-स्वप्न-सुषुप्तित्रयीं पूरयित्वा, तस्यामेव त्रिलोक्यामेकीभूतं सामरस्यं प्राप्तं, दिव्यं सारं तुर्यानन्दघनं, गोभिर्नुत्तैर्मरीचिभिः, पुनरिति पुनः पुनर् आदाय चमत्कृत्य, अन्तरिति अन्तर्मुखे पदे लीनो, वसुधां परां भूमिं, विशसि तन्मयतया स्फुरसि। तद्गतश्चान्नमदनविषयं वेद्यजातं सूयसे आश्यानीभूय तद्रूपतया स्फुरसि। तच्चान्नं प्राणापानावस्थितिहेतुस्त्वमेव न त्वन्यत् किञ्चिदिति। अनया युक्त्या सूर्यः प्राणभृदात्मा च कथ्यसे। यदाह श्रुतिः-

'अहमन्नम्, अहमन्नम्, अहमन्नादः, अहमन्नाद'

इति।

बाह्योऽपि सूर्यो भुर्भुवःस्वस्त्रयीं ज्योतिः-सलिल-पवनैः तत्र तत्र समय आपूर्य समरसीभूतं दिव्यं त्रिलोक्यां रसरूपं सारं रश्मिभिर्ग्रीष्मादावादाय पुनरपि भूमिमन्तस्तापनयुक्त्या लीनः सन् विशति। तद्गतश्चान्नमोषध्याख्यं प्राणावस्थितिहेतुं जनयति। ततः स एवान्नमन्नदोऽन्नादश्च।।२४।।

***अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ बिन्दुनादौ च नित्यौ**
प्राणापानावपि दिननिशे ये च सत्यानृते द्वे।
धर्माधर्मौ सदसदुभयं योऽन्तरावेश्य योगी
वर्तेतात्मन्युपरतमतिर्निर्गुणं त्वां विशेत्सः।।२५।।

(अन्वय)

अन्वय-- (हे अर्क! यौ) नित्यौ अग्नि-सोमौ, प्रकृति-पुरुषौ, बिन्दु-नादौ, प्राण-अपानौ, धर्म-अधर्मौ च, (तथा) ये द्वे सत्य-प्रनृते, दिन-निशे च (भवतः, तौ एवं) सत्-असत् उभयं च अन्तर् आवेश्य, यः योगी उपरत-मतिः (सन्) आत्मनि वर्तेत, सः त्वां निर्गुणं विशेत् (एव)।।२५।।

(शब्दार्थ)

(हे अर्क!) = (हे चित् सूर्य!) | **ये द्वे** = जितने भी ये
यौ = जो (समस्त जगत मैं) | द्वन्द है, (उन को)
नित्यौ = सदा व्याप्त होने वाले | **अन्तर** } = हृदय में प्रविष्ट
अग्नि-षोमौ=अग्नि और चन्द्रमा, | **आवेश्य** } करके (लय करके)
प्रकृति-पुरुषौ = प्रकृति और | **यः योगी** = जो योगी
पुरुष, | **उपरत** } = आत्मानन्द में
बिन्दु-नादौ= बिन्दु और नाद, | **मतिः** } ठहरता है
प्राण-अपानौ=प्राण और अपान, | **सः त्वां** = वही आप के
धर्म-अधर्मौ= धर्म और अधर्म | **निर्गुणं** = निर्गुण (अर्थात्
च = और | गुणातीत) स्वरूप में
(सत्-असत्) = (सत्-असत्) | **विशेत्(एव)**= प्रवेश करता हैं।

(अनुवाद)

(हे चित्-सूर्य! समस्त संसार में) सदा व्याप्त होने वाले अग्नि-चन्द्रमा, प्रकृति-पुरुष, बिन्दु-नाद, प्राण-अपान, दिन-रात, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और सत्-असत् आदि जितने भी द्वन्द हैं, उन्हें जो योगी अपने हृदय में प्रविष्ट अर्थात् लय करके तथा (उन द्वन्द्वों से) निवृत्त होकर आत्मानन्द में ठहरता है, वही आप के निर्गुण (अर्थात् गुणातीत) स्वरूप में (भली-भान्ति) प्रवेश करता हैं।।२५।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

यो योगी नित्यौ सततवाहिनौ प्राणापानावेव कवलनाप्यायनपेतुत्वादग्नीषोमौ ज्ञान-क्रिया-शक्ति प्राधान्यात् प्रकृतिपुरुषौ, वेदन विमर्शत्वाद् बिन्दुनादौ प्रसर-विश्रान्ति-पदत्वाद् दिननिशे, विकाससङ्कोच-निमित्तत्वात् सत्यानृते, ऊर्ध्वाधोगतिकारणत्वाद् धर्माधर्मौ, बाह्यानां सत्तासत्त-योर्ज्ञापकत्वात् सदसत्, उभयम्, अन्तरुदानधाम्नि, आवेश्य विलाप्य, आत्मनि चिद्धाम्नि, वर्तेतावतिष्ठेत, स त्वां निर्गुणं सत्त्वादिगुणातीतं परमादित्यं विशत्येव।।२५।।

२५* 'अग्नीषोम' से लेकर 'सदसत्' तक जितने भी द्वन्द्व इस श्लोक में कहे गये हैं, उन से समस्त संसार में विद्यमान द्वन्द्वों का उपलक्षण किया जाता है। अभिप्राय यह है कि सभी सांसारिक द्वन्द्वों के मध्य में ठहरा हुआ ईश्वर सारे संसार का आधार बना हुआ है।

गर्भाधानप्रसवविधये सुप्तयोरिन्दुभासा
सापत्न्येनाभिमुखमिव खे कान्तयोर्मध्यसंस्थः।
***द्यावापृथ्व्योर्वदनकमले **गौमुखैर्बोधयित्वा**
पर्यायेणापिबसि +भगवन्षड्रसास्वादलोलः।।२६।।

(अन्वय)

हे भगवन्! (त्वं) षट्-रस-आस्वाद-लोलः मध्य-संस्थः सापत्न्येन अभिमुखम् इव (कृत्वा) इन्दु-भासा खे सुप्तयोः कान्तयोः द्यावापृथ्व्योः वदन-कमले गो-मुखैः बोधयित्वा गर्भ-आधान-प्रसव-विधये पर्यायेण आ पिबसि।।२६।।

(शब्दार्थ)

भगवन्! = हे भगवन्!	**खे सुप्तयोः**=आकाशमें सोये हुए,
(त्वं) = आप	**कान्तयोः** = सुन्दर
षट्-रसा-} = षडानन्द भूमियों	**द्यावापृथ्व्योः** = आकाश तथा
स्वाद- } का आस्वाद	पृथ्वी के
लोलः } लेने के इच्छुक	**वदन कमले** =मुख कमलों की
मध्य-संस्थः = (और) संसार	**गौ-मुखैः** = चन्द्र रश्मियों से
के मध्य में ठहरे हुये	**बोधयित्वा** = विकसित करके
सापत्न्येन }= परस्पर प्रतियोगी-	**गर्भ-आधान-**} = प्रवेश और
अभि- } भाव से प्रकट	**प्रसव विधये** } प्रसर के निमित्त
मुखं इव } बने हुए,	**पर्यायेण**] = क्रम से
इन्दु-भासा = चन्द्रमा	**आपिबसि**] पीते हैं।।२६।।

(अनुवाद)

हे भगवन्! आप 'षडानन्द' भूमियों का आस्वाद लेने के इच्छुक तथा (सारे संसार के) मध्य में ठहरे हुये हैं। आप परस्पर प्रतियोगी-भाव से प्रकट बने हुए, आकाश (अर्थात् शून्यावस्था) में सोये हुए और सुन्दर (प्राण-अपान-रूपी) आकाश और पृथ्वी के ('अन्तर्द्वादशान्त' और 'बाह्य-द्वादशान्त' में स्थित संधि-द्वयात्मक) मुख कमलों को चिद्रश्मियों से विकसित करते हैं। (फिर आप उन्हें अपनी ही किरणों के द्वारा सारे संसार के) प्रवेश और प्रसर के निमित्त क्रम से पीते हैं अर्थात् विमर्श करते हैं।।२६।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवंश्चिद्भानो! द्यवापृथ्व्योः सर्वद्वादशान्तात्मान्तरिक्षदेह-भूम्योः कान्तयोर्निजविज्ञानेनैव रमणीयतां प्रापितयोर्वदनकमले शक्तिनलिने गोमुखरनुत्तरैर्मरीचिभिर्बोधयित्वा विकास्य असामान्यशाक्तानन्दास्वादनलम्पटः सन् पर्यायेण विचि-

---

२६* इस श्लोक में आकाश और पृथ्वी शब्दों में 'अन्तर्द्वान्दशान्त' और 'बाह्य-द्वादशान्त' की ओर संकेत है। इन दोनों द्वादशान्तों का निर्णय अगले श्लोक में किया जायेगा।

२६+'गोमुख' शब्द से चिद्रश्मियों की सुचना मिलती है।

२६++षड्रसों में 'षडानन्द' भूमियों की ओर संकेत किया गया है। यथा - निजानन्द, निरानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। ये आनन्द की भूमियां अत्यन्त रहस्य-पूर्ण होने के कारण अवर्नीय हैं। योगी-जन ही इन का आस्वाद लेने के लिए लालायित तथा रसिक होते हैं।

त्रोन्मेषनिमेष क्रमैरापिबसि चमत्कुरुषे।
कीदृशः? मध्यसंस्थोऽग्नी-षोमाधिरूढः।
किमर्थम्? गर्भे स्वान्तर्यदाधानं, प्रेक्षेपोऽर्थाद्विश्वस्य प्रसवस्तदौचित्येन भासनं, तद्विधानार्थम्।
कीदृश्योर्द्यावापृथिव्योः? खे शून्यप्रमातरि सुप्तयोः --

'कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्त्वं कर्तृतामयम्।
अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम्।।'

इति नीत्या शून्यप्रधानताश्रयेण निमज्जितपारमार्थिक-स्वरूपयोरभिमुखावस्थितयोः।
कथं सुप्तयोः? सापत्न्येन परस्पर-प्रतियोगितयैवाभिमुखं कृत्वा। उभयानुकूलत्वादाभिमुख्यमाश्रित्येत्यर्थः।
बाह्योऽप्यर्को द्यावापृथिव्यो रात्रिविन्दुभासा सुप्तयोर्मीलित-स्वरूपयोरभिमुखावस्थितयोर्मध्ये गोभिर्वदननलिने विकास्य तदीयविचित्ररसास्वादलोल आपिबति भौमान्तरिक्षान् रसान्। गर्भाधानाय ग्रीष्मादौ कर्षण्यादिनिजरश्म्यन्तर्निवेशनाय। प्रावृडादौ च प्रसवाय वर्षण्यादिमरीचिविसर्गतो नानौषध्युत्पये। अथ च सापत्न्येनाभिमुखयोः सुप्तयोरिन्दु- भासोपलक्षितयोः कर्पूराच्छुरितयोः कान्तयोर्मध्यसंस्थो नायको वैदग्ध्याद्वयो-र्वक्त्रपद्मे पर्यायेण युगपद् बोधयित्वा लोचनपरिचुम्बन-पुरःसरमुन्निद्रे विधाय वक्त्रासवामृतलम्पटो गर्भस्याधानप्रसव-निमित्तमापिबति रतयेऽत्यर्थं परिचुम्बतीति श्लेषालङ्कारः श्लेष-ध्वनिसंसृष्टिश्च।।२६।।

***सोमं पूर्णामृतमिव चरुं तेजसा साधयित्वा**
कृत्वा तेनानलमुखजगत्तर्पणं वैश्वदेवम्।
आमावस्यं विघसमिव खे **तत्कलाशेषमश्नन्
ब्रह्माण्डान्तर्गृहपतिरिव स्वात्मयागं करोषि।।२७।।

(अन्वय)

(हे भगवन्! त्वं) तेजसा सोमं पूर्ण-अमृतं चरुम् इव साधयित्वा, तेन अनल-मुख-जगत्-तर्पणं वैश्वदेवं कृत्वा (एवम्) आमावस्यं विघसम् इव तत्-कला-शेषं खे अश्नन्, ब्रह्माण्ड-अन्तर् गृहपतिः इव स्वात्म-यागं करोषि।।२७।।

(शब्दार्थ)

(हे भगवन्!त्वं)=हे भगवन्!तुम	**आमावस्यं** = अमावस्य की
तेजसा=(अपने)चित् प्रकाश से	**तत् कला शेषं}** = अमाकला
सोमं = चन्द्रमा को	**अवशिष्ट }** का
पूर्ण-अमृतं} = पूर्णामृत से भरे	**विघसं इव** = हुत-शेष की नाई
चरुं इव } हुये हव्यान्न के	**खे** = चिदाकाश में
साधयित्वा = समान बनाते हो,	**अश्नन्** = आस्वाद लेते हैं।
तेन = (फिर) उसी से	**ब्रह्माण्डान्तर** = (इस प्रकार)
अनल-मुख-} = अग्नि द्वारा	आप ब्रह्माण्ड में
जगत्-तर्पणं } सारे जगत का	**गृह-पतिः इव** = गृह पति की
तर्पणात्मक	तरह
वैश्वदेवं कृत्वा = वैश्वदेव यज्ञ	**स्वात्म-यागं** = आत्म यज्ञ
करके	**करोति**=करते रहते हैं।।२७।।

(अनुवाद)

(हे भगवन्! आप अपने) चित् प्रकाश से (प्राण-अपान रूपा) चन्द्रमा को पूर्णामृत से भरे हुए हव्यान्न के समान बनाते हैं। (फिर) उसी (हव्यान्न) से (उदान रूपी) अग्नि के द्वारा सारे जगत का तर्पणात्मक वैश्वदेव यज्ञ करते हैं। (इसके बाद आप प्राण और अपान की पारस्परिक सन्धि रूपिणी) अमावस्या की उस (द्वादशान्तात्मक) अवशिष्ट अमा कला का, हुत-शेष की नाई, स्वयं चिदाकाश में आस्वाद लेते हैं। (इस प्रकार) आप ब्रह्माण्ड (रूपी अपने घर) में गृहपति की भान्ति (सदा) आत्म यज्ञ करते रहते हैं।।२७।।

२७* आन्तरिक चन्द्रमा अपान-वायु बन कर 'बाह्य-द्वादशान्त' से भीतर की ओर सञ्चार करते करते पंद्रह तुटि रूपी शुकलपक्ष के पंद्रह दिनों का उल्लङ्घन करता है। फिर हृदयाकाश में स्थित और तुट्यर्धांश से सीमित 'अन्तर्द्वादशान्त' पर बाह्य-चन्द्रमा की नाई परिपूर्णकला से संयुक्त हो कर आन्तरिक पूर्णिमा के अमृत का आस्वाद लेता है । इसी तरह परिपूर्णता को प्राप्त हुआ भी चन्द्रमा प्राण-रूप बन कर 'अन्तर्द्वादशान्त' से प्रसारित होते हुए पंद्रह तुटि-रूपी कृष्णपक्ष में क्रम से क्षीण होता है और क्षीण होकर 'बाह्यद्वादशान्त' में स्थित तुट्यर्धांश रूपी आन्तरिक अमावस्या पर अमाकला का आस्वाद लेता है । इसी प्रकार आन्तरिक पूर्णिमा तथा आन्तरिक अमावस्य का आस्वाद लेते हुए योगी-जन वास्तविक गृहपति बन कर सदा 'आत्मयाग' का अनुभव किया करते है ।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे चिदर्क! ब्रह्मरन्ध्रावस्थितशाक्तब्रह्मोपलक्षितस्याण्डस्य अन्तरिति धरा-मूल-माया-शक्त्यण्ड-चतुष्टयस्य मध्ये गृहे स्वात्मयागं करोषि।

किं कृत्वा?

सोमं रूपादिपञ्चदशात्मकमेयं तेजसा निजमरीचिविस्फुरणेन, पूर्णामृतं चरुमिव साधयित्वा--

"एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता"

(प० त्रि० भा० पृ० २२३)

इति कृत्वा विश्वात्मनिजशाक्तामृताभासमयं स्वसंनिविष्टं विधाय।

२७.**प्राण और अपान के, हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक, चलने में ३६ अंगुलों के समान समय लगता हैं। सवा दो अंगुलों के समान समय को तुटि कहते हैं। हृदयाकाश और बाह्य-द्वादशान्त पर अर्थात् संधियों पर स्वाभाविक रूप से जरा ठहरने में आधी आधी तुटि लगती है। इस प्रकार प्राणापान को हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक सञ्चार करने में पंद्रह तुटियों का समय लगता है और यही पंद्रह तुटियां पक्ष के पंद्रह दिनों के समान मानी गई हैं। प्राण के हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक चलने के समय (अर्थात् पंद्रह तुटियों) को कृष्णपक्ष के पंद्रह दिनों के समान और अपान के बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश तक पहुँचने के समय (अर्थात् पंद्रह तुटियों) को शुक्ल-पक्ष के पंद्रह दिनों के समान माना गया है ।

अनल उदानवह्निर्मुखं प्राप्त्युपायो यस्य ब्रह्माद्यनाश्रितान्त-कारणाधिष्ठित धरादि शिवतत्त्वान्ताध्वविस्फारमयस्य जगतः, तस्य तर्पणं यत्तदेव वैश्वदेवं यागं तेन सोमेन चरुणा विधाय, तस्य सोमस्य कलाशेषं जगत्तर्पणोपयुक्तकलापञ्चदशावशिष्ट-मूर्ध्वतुट्यर्धाख्यामावस्यासंबन्धि अमाख्यकलारूपं, विधसमिव कवलिताशेष संस्कार कल्पमिवाश्नन्।

"अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः।
पिबन्ति च सुराः सर्वे दश पञ्च परा कलाः।।
अमाशेषगुहान्तःस्थामावस्या विश्वतर्पिणी।।"

इति श्रीकालिकाक्रमादिष्टनीत्या विश्वदेवतापरमार्थे स्वात्मनि चमत्कुर्वन्।

कीदृक् त्वम्?

गृहपतिरिव। सोऽपि हि पूर्णामृतकल्पमामावस्यं चरुं प्रसाध्य, तेनाग्निप्रमुखसर्वजगत्तर्पणं वैश्वदेवं च कृत्वा तच्छेषमश्नन् स्वात्मदेवतायागं करोति। बाह्योऽपि सूर्यः स्वरश्मितापप्रद्रा-वितसोमकला पञ्चदशकेन देव-ऋषि-नरात्म-जगत्तर्पणं विधायामाख्यकलाचमत्कारात्म स्वात्मयागं ब्रह्माण्डस्यान्त-र्विधत्ते।।२७।।

कृत्वा *नक्तंदिनमिव जगद्बीजमाव्यक्तिकं य-
त्तत्रैवान्तर्दिनकर तथा ब्राह्ममन्यत्ततोऽल्पम्।
दैवं पित्-त्र्यं(पित्त्र्यं) क्रमपरिगतं मानुषं चाल्पमल्पं
कुर्वन्कुर्वन्कलयसि जगत्पञ्चधावर्तनाभिः।।२८।।

(अन्वय)

हे दिनकर ! यत् जगत्-बीजम् आव्यक्तिकं नक्तंदिनम् (अस्ति), तत् कृत्वा, तथा तत्रैव अन्तर् ततः अल्पं ब्राह्मं (नक्तंदिनं कृत्वा, एवम्) दैवं, पित्त्र्यं (पित्-त्र्यं), मानुषं च (नक्तंदिनं) क्रम-परिगतम् अल्पम् अल्पं कुर्वन कुर्वन पञ्चधा आवर्तनाभिः जगत कलयसि।।२८।।

(शब्दार्थ)

दिनकर = हे सूर्य!	**नक्तं दिनं** = रात दिन को
यत् जगत बीजं = जो जगत् का कारण है	**कृत्वा** = रच कर
	दैवं, = देवताओं,
आव्यक्तिकं नक्तं} = उस	**पित्त्र्यं** = पितरों,
दिनं अस्ति } प्राकृतिक् दिन को रचते है	**मानुषं च**=(और) मनुशाष्यों के
	(नक्तं दिनं)=दिनोंको रचते हैं।
तत् कृत्वा = ऐसा करके	**(यः)** = जो
तथा तत्रैव } = फिर उसी	**क्रम परिगतं** = क्रम पूर्वक
अन्तर् } दिन के अन्दर	**अल्पं अल्पं** } = एक दूसरे से
ततः अल्प ब्राह्मं = उस से छोटे ब्रह्मा के	**कुर्वन् कुर्वन्** } छोटे होते हुये,
	पंचधा = पाँच प्रकार के

आवर्तनाभिः = चक्रों से	**कलयति** = रचना करते हैं।
जगत् = जगत की	।।२८।।

(अनुवाद)

हे (चित्स्वरूप) सूर्य! आप (पहिले) उस प्राकृतिक् दिन (अर्थात् दिन और रात के समय-विभाग) को रचते है, जो (सारे) जगत का कारण है। (फिर) उसी दिन के अन्दर उस से छोटे ब्रह्मा के दिन को (रच कर) देवताओं, पितरों और मनुष्यों के दिनों को रचते हैं, जो क्रम पूर्वक एक दूसरे से (परिमाण में) छोटे होते हैं। (इस प्रकार आप इन) पाँच प्रकार के चक्करों से जगत की रचना करते हैं।।२८।।

२८* स्वच्छन्द आदि बृहत् ग्रन्थों में उपरोक्त दिन-रात्रियों के विषय में निम्न-लिखित रीति से वर्णन किया गया है :-

मनुष्य-संबन्धी दिन-रात्रि तीस मुहूर्त्तों की होती है। इस रीति के अनुसार एक वर्ष में दो अयन होते है, उत्तरायण तथा दक्षिणायन। दक्षिणायन में पितरों तथा देवताओं की रात्रि और उत्तरायण में दिन होता है। चार हज़ार युगों का एक कल्प होता है, इसे ब्रह्मा का एक दिन माना जाता है । इसी रीति से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष में समाप्त होती है। ब्रह्मा की यह आयु एक प्राकृतिक दिन के समान मानी गई है। इन उपरोक्त दिन-रात्रियों की सृष्टि तथा संहृति चित्सूर्य ही किया करता है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे दिनकर विश्वोदयकारिदिवससम्पादक चिद्भानों, जगतः सदाशिवान्तस्य विश्वस्य यद् बीजमारम्भावसानयोरुदयापवर्ग-कारणं, श्रीस्वच्छन्दादिष्टवितितपरार्धात्मकालरूपमहोरात्रं, तत्कृत्वाभास्य, तत्रैवान्तर्जगतः, कलादिक्षित्यन्तस्याशुद्धाध्व-रूपस्य बीजं मायेय महोरात्रं, तदन्तरप्याव्यक्तिकं प्राकृतं, तदन्तरपि ब्राह्मं, तत्रापि दैवं, तत्रापि पित्त्र्यं प्रेत(पितृ)संबन्धि, तत्रापि मानुषं, क्रमेणाल्पमल्पं कुर्वन्कुर्वन्निव वैचित्र्यसहस्त्रै-राभासयन्निव, जगद्विश्वं, पञ्चधावर्तनाभिर्विचित्रजागरादिदशा-पञ्चकपरावर्तनैः, कलयसि अन्तरवस्थितं बहिः क्षिपसि निर्मिमीषे। निर्मितं च कलयसि। इदमित्थमिदमिदमिति संख्यानेन स्थापयसि। स्थापितमपि कलयसि अन्तःसंहरसि। संहृतमपि कलयसि संस्कारगालनेन विमृशसि। विमृष्टमपि कलयसि स्वात्माभेदेन जानीषे, स्वप्रकाशैक्यमापादयसि तथा पुनरपि स्वरूपात् कलयसि नवं नवमुल्लासयसि। इत्येवं सर्ग-स्थिति-संहृति-विलापन-स्वात्मैक्याभासनपरस्परान्दोलन-लीलाक्रान्तं करोषि। अत्र 'जगद्बीजम्' आवर्त्य द्विर्योज्यम्। अल्पमल्पमिति वीप्सायाम्।

अयमाशयः- यद्यस्य यावदहोरात्रं तत्तदीये प्राणचारे तदंशांशिकास्वपि वा श्रीस्वच्छन्दादिष्टमासोदयादिषष्ट्यब्दो-दयान्तप्रक्रियया योगिज्ञानोपेक्षयातिपरिमितमाभासयति भगवान्, तत्राप्यन्तर्विश्वै-कात्म्यप्रथनात् सदाशिवान्त-काल कलनामशेषामाभासयतीत्याभासमानोऽयं कालो नत्वस्य

वास्तवं किञ्चित्तत्त्वमस्ति। अतएव कुर्वन्निवेतीवशब्देनायमेवार्थः स्पष्टः। वस्तुतो ह्येतावद्विश्वोदयावस्थानविलापनाद्यात्मा परमेश्वर एवेति स्फुरति। न तु चिदेकवपुषस्ततोऽतिरिक्तं किमप्यस्ति।

अत्र च मानुषाद्यहोरात्रप्रमाणं (परिमाणं) श्रीस्वच्छन्दे चोक्तम्। तद्यथा -

'मुहूर्तास्तु तथा त्रिंशदहोरात्रस्तु मानुषः।
दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम्।।
पितॄणां तदहोरात्रमनेनाब्दं तु पूर्ववत्।
एवं दैवस्त्वहोरात्रः ....।।" इति।

यत्त्विह दैवं पित्र्यं पृथगुक्तं तत्पितृसम्बन्ध्यहोरात्रो ज्ञेयः। तेषां शुक्लकृष्ण रूपो हि सः। किं च --

'कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम्।
षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणः प्रलयोद्भवः।।
अव्यक्तस्थेषु रुद्रेषु दिनरात्रिश्च तावती।
प्राधानिक-परार्धेन दशधा गुणितेन तु।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत्।।' इति।

तथा--

'शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधा गुणितस्य च।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेतत्प्रकीर्तितम्।।'

इत्येवमादि। तथैकत्र प्राणचारे घटिकोदयात् प्रभृति षष्ट्यब्दोदयान्तं विततं तन्त्रादिष्टं ग्रन्थगौरवभयान्न दर्शितम्। एवमहोरात्रकृत्त्वेन जगद्विपरिवर्तकत्वं भगवत उक्तम्।।२८।।

तत्त्वालोके तपन सुदिने ये परं संप्रबुद्धाः
ये वा चित्तोपशमरजनीयोगनिद्रामुपेताः।
तेऽहोरात्रोपरमपरमानन्दसंध्यासु सौरं*
भित्त्वा ज्योतिः परमपरमं यान्ति निर्वाणसंज्ञम्।।
।।२९।।

(अन्वय)

हे तपन ! ये (योगिनः) तत्त्व-आलोके सुदिने परं संप्रबुद्धाः, ये वा चित्त-उपशम-रजनी-योगनिद्राम् उपेताः (भवन्ति), ते अहोरात्र-उपरम-परमानन्द-संध्यासु सौरं ज्योतिः भित्त्वा परम-परमं निर्वाण-संज्ञं (पदं) यान्ति।।२९।।

(शब्दार्थ)

हे तपन! = हे सूर्य!
ये = जो (योगिजन)
तत्त्वालोके = आत्म ज्ञान रूपी
सुदिने = प्रशस्त दिन के समय
परम् = पूर्णरूप में (विमर्श युक्ति से ही)
संप्रबुद्धा = सचेत हो जाते हैं ।
वा = और
ये = जो
चित्त = चित् की
उपशम् = शांति रूपी
रजनी = रात में
योगनिद्रां = योग-निद्रा में
उपैताः } = मग्न हो
(भवन्ति) } जाते हैं।
ते = वे योगी
अहोरात्र = दिन और रात की
उपरम= निवृत्ति (एकाग्रत) रूपी
परमानन्द } = परमानन्द पूरित
संध्यासु } सन्धयाओं के समय

सौरं = सूर्य (प्राण रूपी)
भित्त्वा } = स्थूल प्रकाश
ज्योतिः } को हटा कर
निर्वाण-संज्ञं=निर्वाण(मोक्ष)रूपी
परं परमं=अति उच्च परम पदको
यान्ति = प्राप्त होते हैं।।२९।।

(अनुवाद)

हे सूर्य! जो (योगी-जन) आत्म-ज्ञान रूपी प्रशस्त दिन के समय पूर्ण रूप में (विमर्श युक्ति से ही) सचेत हो जाते हैं, और जो (संकल्प-विकल्पों से रहित) चित्त की शान्ति रूपिणी रात में योगनिद्रा में मग्न हो जाते हैं, वे (योगी) दिन और रात (अर्थात् प्राण और अपान) की निवृत्ति रूपी परमानन्द से पूरित संध्याओं के समय (प्राण रूपी) सूर्य के स्थूल प्रकाश को हटा कर मोक्ष नामक अति उत्तम पदवी को प्राप्त होते हैं ।।२९।।

२९* प्राण-अपान रूपी दिन रात के अवसान में ही आन्तरिक संध्याओं का अनुभव होता हैं।

२९**सूर्य संबन्धी ज्योति प्राणों के प्रसरप्रवेशात्मक स्थूल गति की ओर ही संकेत करती है ।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे तपन महाप्रकाशरूप, ये योगिनस्तत्त्वालोकात्मनि शोभनेऽनिशोदितेऽनस्तमिते दिने पारमार्थिके सर्वदशानुस्यूते सर्वतोमुखे चित्प्रकाशे सम्यक् प्राणायामाद्यायासं विनाविमर्श-युक्त्या प्रबुद्धा गलिताख्यातितामीस्राः। ये चान्ये चित्तोपशम एव सर्वबाह्याभ्यसनिवृत्तिहेतुत्वाद्रजनी। तस्यां योगनिद्रामुपेताः प्रशमितविकल्पसविकल्पप्रकाशैक्यमापन्नाः। उभयेऽपि ते प्राग्वर्णितसमस्ताहोरात्रोपरम एव परमानन्दरूपाः संध्यानिम-ज्ञत्प्राणापानव्याप्तिशुवसामरस्यभुवः सर्वतोदिक्कमुदितास्तासु सौरमिति प्राणीयमपरममिति स्थूलं ज्योतीः संकुचितं प्रकाशं भित्त्वा निःसंस्कारं विलाप्य परं निर्वाणमार्गं यान्ति सदा परं शाक्तं धामाश्लिष्यन्ते।।२९।।

न केवलां चित्रां कालकलनाम् अकालकलितस्वरूपसमापत्तिं च दर्शयसि, यावज्जगदुदयापायावपीत्याह--

आब्रह्मेदं नवमिव जगज्जङ्गमस्थावरान्तं
सर्गे सर्गे विसृजसि रवे गोभिरुद्रिक्तसोमैः।
दीप्तैः प्रत्याहरसि च लये तद्यथायोनि भूयः
सर्गान्तादौ प्रकटविभवां दर्शयंरश्मिलीलाम्*॥
॥३०॥

(अन्वय)

हे रवे ! (त्वम्) आब्रह्म जङ्गम-स्थावर-अन्तम् इदं जगत् दीप्तैः उद्रिक्त-सौमैः गोभिः सर्गे सर्गे नवम् इव विसृजसि, (तथा) तत् (इदं जगत्) लये च यथा-योनिः भूयः प्रत्याहरसि। (एवं त्वं) सर्ग-अन्त- आदौ प्रकट-विभवां रश्मि-लीलां दर्शयन् (स्थितः असि)॥३०॥

(शब्दार्थ)

रवे = हे चित् रूप सूर्य!	**दीप्तैः** = (अपनी) उज्ज्वल तथा
(त्वं) = (आप)	**उद्रिक्त-सोमैः-}** = अमृतमय
आब्रह्म = ब्रह्मा से लेकर	**गोभिः** } किरणों से
(शाक्त रूप से)	**सर्गे सर्गे** = हर सृष्टिकाल में
जङ्गम- } = स्थावर और जङ्ग	**नवम इव** = नये सिरे से
स्थावर-अन्तं } (पृथ्वी) तक	**विसृजसि** = उत्पन्न करते हैं।
इदं जगत् = इस जगत को	**तत्(इदं जगत्)**=फिर यह जगत्

लये च = प्रलय के समय	**आदौ**]और अन्त के समय
यथा-योनिः = अपने कारण	**प्रकट-** } = प्रकट ऐश्वर्य
के अनुसार	**विभवां** } वाली
भूयः = दुबारा	**रश्मि-**] = चिद्रश्मियों की
प्रत्याहरसि = संहत करते हैं ।	**लीलां**] लीला को
(एवं) = (इस प्रकार)	**दर्शयन्**] दिखाते हैं।।३०।।
सर्ग-अन्त-]= सृष्टि के प्रारम्भ	

(अनुवाद)

हे (चित्-स्वरूप) सूर्य! आप ब्रह्मा से लेकर स्थावर और जंगम् तक (सभी वस्तुओं से युक्त) इस (सारे) संसार को अपनी उज्ज्वल तथा अमृत-मय किरणों से प्रत्येक सृष्टिकाल में नये सिरे से उत्पन्न करते हैं । प्रलय के समय अपने कारण के अनुसार उस (जगत) को फिर संहृत करते हैं । (इस प्रकार) आप सृष्टि के प्रारम्भ और अन्त के समय प्रकट ऐश्वर्य वाली (अपनी) चिद्रश्मियों की लीला को दिखाते हैं ।।३०।।

३०* ब्रह्मा से लेकर स्थावर, जंगम आदि वर्ग तक सभी वस्तुओं से युक्त इस सारे संसार का उत्पन्न तथा नषट होना ही उस पारमार्थिक सूर्य की शक्ति रूपिणी किरणों का विकास है इस लिए संसार की सृष्टि और संहृति से इस की असत्यता का विचार करना सर्वथा असंगत है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

आब्रह्मणः शाक्ताद्रूपादाब्रह्म, निजंपरं शाक्तं रूपं वर्जयित्वा, इदं सर्वं सादाशिवादिक्षित्यन्तं, जङ्गमस्थावरे अन्तौ भागौ यस्य तादृके जगत् सर्गे सर्गे प्रथमेच्छोन्मेषात्मन्यादिसर्गे, भूयो भूय, उद्रिक्तसोमैः स्फीतशाक्तामृतैर् गौभिर्मरीचिभिर् विसृजसि-आश्यानीभूतं निजरश्मिरूपं प्रकटयसि। भूयो दीप्तैरग्निप्रधानै-र्गोभिस्तज्जगद्यथायोनि प्रत्याहरसि स्वस्वातन्त्र्यावभासित तत्तत्कारणनिवेशपुरःसंरलये स्वचिदैक्याभासनात्मनि संहारे प्रतीपमाहरसि चिदेकमयमेव करोषि।

किं कुर्वन्?

सर्गस्य सृष्टेरादौ अन्ते प्रकटं-विभवां स्फुटमाहात्म्यां रश्मिलीलां प्रकटयन्निजमरीचिविलासमाभासयन्।।३०।।

श्रित्वा नित्योपचितमुचितं *ब्रह्मतेजः प्रकाशं
रूपं सर्गस्थितिलयमुचा सर्वभूतेषु मध्ये।
अन्तेवासिष्विव सुगुरुणा यः परोक्षः प्रकृत्या
****प्रत्यक्षोऽसौ जगति भवता**
दर्शितः स्वात्मनात्मा।।३१।।

(अन्वय)

(हे भगवन्!) सर्ग-स्थिति-लय, मुचा भवता स्वात्मना नित्य-उपचितम् उचितं ब्रह्म-तेजः-प्रकाशं रूपं श्रित्वा, सर्व-भूतेषु मध्ये अन्तेवासिषु सुगुरुणा इव असौ आत्मा जगति प्रत्यक्षः दर्शितः, यः प्रकृत्या परोक्षः (अपि अस्ति)।।३१।।

(शब्दार्थ)

(हे भगवन्) = (हे भगवन्!)	**रूपं श्रित्वा** = रूप का आश्रय लेते हैं
सर्ग-स्थिति-लय मुचा = आप सृष्टि, स्थिति तथा संहार के चक्कर से मुक्त हैं।	**(तथा)** = (और)
	सर्व भूतेषु = सभी प्राणियों के
स्वात्मना = आप	**मध्ये** = बीच में
नित्य-उपचितं = सदा परिपूर्ण होने वाले	**अन्तेवासिषु** =अपने भक्तों को (शिष्यों में)
उचितं = प्रशंसनीय,	**सुगुरुणा** } = तत्त्वदर्शी गुरु
ब्रह्म तेजः } = ब्रह्मतेज के	**इव** } की भांति
प्रकाशं } प्रकाश से युक्त	**असौ आत्मा** = उस आत्मा का

जगति = जगत में	**यः प्रकृत्या** } = जो कि
प्रत्यक्ष = प्रत्यक्ष रूप से	**परोक्षः** } स्वभाव से ही
(ज्ञान नेत्रों द्वारा)	**(अस्ति)** } अदृश्य है।
दर्शितः = दर्शन कराते हैं।	।।३१।।

(अनुवाद)

(हे भगवान्!) आप सृष्टि, स्थिति और संहार (के चक्कर) से मुक्त है। (आप) सदा परिपूर्ण होने वाले, प्रशंसनीय और ब्रह्मतेज के प्रकाश से युक्त रूप का आश्रय लेते हैं और संसार के सभी प्राणियों के बीच में (अपने भक्तों को) स्वयं ही उस आत्मा का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन कराते हैं, जो स्वभाव से ही अदृश्य है, जैसे तत्त्वदर्शी गुरु (अपने) शिष्यों को कराता है।।३१।।

३१* सारे संसार में जो सब से बडा है और जो इस संसार को अपने प्रकाश से बढाता है, उसे ब्रह्म कहते हैं।

३१** उपरोक्त श्लोक में कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से परोक्ष होते हुए भी भक्तों को प्रत्यक्ष रूप में दीख पडती है। अब यहां यह शंका उठती है कि जो वस्तु स्वभाव से ही परोक्ष हो, उस का प्रत्यक्ष होना कहां तक संभव है। इस शंका का समाधान तो यों हो सकता हे कि वास्तव में भक्त-जन उस आत्मा की प्रत्यक्षता का अनुभव इन चर्म-चक्षुओं से नहीं करते, अपितु ज्ञान से ही उस के आनन्द-रस का अनुभव करते हैं। इस लिए इस श्लोक में प्रत्यक्ष शब्द का संकेत चर्म-चक्षुओं से नही, वरन् ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की स्थिति का अनुभव करने की ओर है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन्, यः प्रकृत्या स्वभावेन परोक्षोऽक्षागोचर आत्मा असौ जगति सर्वभूतेषु मध्ये भवतान्तेवासिषु अनुग्राह्येषु आत्मनैव प्रत्यक्षो दर्शितः स्वप्रकाशतया प्रकटीकृतः।

किं कृत्वा?

नित्योपचितं सदा परिपूर्णमुचितं चिदानन्दघनं रूपं श्रित्वा देहादिनिमज्जनेनोन्मग्नं विधाय।

कीदृग् रूपम्?

ब्रह्मतेजः प्रकाशं बृहत्त्वाद् बृंहकत्वाच्च ब्रह्म द्वैतदाहित्वात्तेजो यस्य तादृशः प्रकाशः प्रथा यस्य।

कीदृशेन भवता?

सर्ग-स्थिति-लय-मुचा जननादिशून्येन, तथान्तेवासिषु शिष्येषु, शोभनेन दृष्टतत्त्वेन गुरुणा आत्मा दर्शयते चिन्मयी सत्ता प्रकटीक्रियते, तथा त्वयान्तः परमात्मतया बहिश्च तेजो विश्वरूपतया स्वयमात्मा प्रकटीक्रियते।।३१।।

लोकाः सर्वे वपुषि नियतं ते *स्थितास्त्वं च तेषा-
मेकैकस्मिन्युगपदगुणो विश्वहेतोर्गुणीव।
इत्थंभूते भवति भगवन्न त्वदन्योऽस्मि सत्यं
किन्तु **ज्ञस्त्वं परमपुरुषोऽहं प्रकृत्यैव चाज्ञः।।
।।३२।।

(अन्वय)

हे भगवन्! विश्व -हेतोः ते वपुषि सर्वे लोकाः नियतं स्थिताः। त्वं च तेषाम् एक-एकस्मिन् (रूपे) युगपत् (स्थितः, अतः त्वम्) अगुणः (अपि) गुणी इव (प्रतिभासि)। इत्थंभूते भवति (सति, अहं) न त्वद्-अन्यः अस्मि, (इदं तु) सत्यम्। किन्तु त्वं परमपुरुषः ज्ञः, अहं च प्रकृत्या एव अज्ञः (अस्मि)।।३२।।

(शब्दार्थ)

भगवन् = हे भगवन्! (आप)
विश्व } = सारे संसार
हेतोः } के कारण हैं।
ते वपुषि = आप के स्वरूप में
सर्वलोकाः = सारे लोक
नियतम् = सदा
स्थिताः = स्थित रहते हैं।
त्वं च = और आप
तेषां = उन में से
एक-एकस्मिन् } = प्रत्येक के
(रूपे) } (रूप में)
युगपत् = एक ही समय पर
अगुणः } = निर्गुण होने
(अपि) } पर भी
गुणी] = सगुण के
इव] समान है।
इत्थं भूते } = आप के ऐसा
(भवति) } होने पर

न त्वद्-] = मैं आप से	**त्वं परम- }** = आप परमपुरुष
अन्यः] कुछ भी भिन्न	**पुरुषः ज्ञः }** तथा सर्वज्ञ हैं।
अस्मि] नहीं हूँ	**अहं च** = पर मैं तो
(इदं तु) } = (यह बात)	**प्रकृत्या }** = स्वभाविक
सत्यं } सत्य ही है,	**एव }** रूप से ही
किन्तु = परन्तु	**अज्ञः (अस्मि)** = अल्पज्ञ हूँ।।

(अनुवाद)

हे भगवान्! आप सारे संसार के कारण हैं। आप के स्वरूप में सारे लोक (अर्थात् तीनों लोकों में होने वाले सभी जड़ और चेतन पदार्थ) सदा स्थित रहते हैं और आप उन में से प्रत्येक (के रूप) में एक ही समय पर (सदा स्थित रहते) हैं। (इस लिए आप) निर्गुण होने पर (भी) सगुण के समान हैं। जब आप ऐसे (कहे जा सकते) हैं, तो सचमुच ही मैं आप से भिन्न (कोई चीज़) नही हूँ। किन्तु (हम दोनों में भेद यही है कि) आप परमपुरुष और

३२* सारे ब्रह्मादि लोक ईश्वर में ठहरे हुए हैं और ईश्वर उन में ठहरा हुआ हैं। ये एक दूसरे से विरुद्ध दो बातें इस श्लोक में कही गई हैं। यह कथन वहीं लागू हो सकता हैं, जहाँ परस्पर सजातीय वस्तुओं का ही संबन्ध हो, अर्थात् दो विजातीय वस्तुओं में यह नियम नहीं घट सकता। घटाकाश में विस्तृत आकाश और विस्तृत आकाश में घटाकाश इसी लिए स्थित हैं, क्योंकि वे दोनों सजातीय ही हैं, अर्थात् आकाशत्व दोनों में समान ही हैं। अतः सिद्ध होता है कि ईश्वर और जीव परस्पर सजातीय ही हैं, तभी तो जीव का ईश्वर में ठहरना और ईश्वर का जीव में स्थित होना सिद्ध हो सकता है।

सर्वज्ञ हैं और मैं (आप की ही माया से प्रभावित होने के कारण) स्वाभाविक रूप से अल्पज्ञ (और मूर्ख) हूँ ।।३२।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन् परानन्दात्मक स्वातन्त्र्यशक्तिस्वरूप परावागालिङ्गितमूर्ते, ते तव विश्वहेतोरशेषकारणस्य वपुषि प्रकाशानन्दघने स्वरूपे, सर्वे लोका लोक्यमाना पदार्थाः, लोकयितारश्च रुद्रक्षेत्रज्ञरूपाः प्रमातारः स्थिताः। त्वच्चिदात्मिकां सत्तां विना हि कथमेते त्वत्तो विश्वहेतोरुदियुः। तेषां च लोकानां सम्बन्धिन्येकैकस्मिन् वपुषि त्वं युगपदक्रमेणैव स्थितः, अन्यथा ते त्वत्प्रकाशतां विना हि कथं प्रकाशेरन्? अतश्च त्वं सत्त्वादिगुणहीनोऽपि विश्वात्मताभासगुणाद् गुणीवाभासि। इत्थमुपवर्णिते विश्वात्मनि भवति सति सत्यमस्मि नान्यः। किं तु त्वमेवंभूतः परमः पुरुषो ज्ञः परिपूर्णः सार्वज्ञ्यादिधर्मः। अहमिति त्वयैव देहादिषु ग्राहितप्रमातृभावः प्रकृत्या त्वन्मायामाहात्म्यादज्ञः। अतश्च देहादिप्रमातृतानिमज्जनेनाज्ञतां प्रशमय्य नित्यं स्वात्मसमावेशेन ज्ञतां ममोन्मज्जयेत्यर्थादुक्तं भवति।।३२।।

३२** कवि ने इस श्लोक में यह बात स्पष्टता से दिखाई है कि परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। अतः इन दोनों का आपस में महान् भेद है, पर यह भेद वास्तविक भेद नही है, अपितु आरोपित किया हुआ है। माया रूपी अज्ञान को हटाने से यह भेद नहीं रहता।

संकल्पेच्छाद्यखिलकरणप्राणवाण्यो वरेण्याः
संपन्ना मे त्वदभिनवनाज्जन्म चेदं शरण्यम्।
मन्ये चास्तं *जिगमिषु शनैः पुण्यपापद्वयं त-
****द्भक्तिश्रद्धे तव चरणयोरन्यथा नो भवेताम्।।**
।।३३।।

(अन्वय)

(हे दिनपते! अहं) मन्ये (यत्) त्वद्-अभिनवनात् मे संकल्प-इच्छा-आदि-अखिल-करण-प्राण-वाण्यः वरेण्याः संपन्नाः। इदं (मम) जन्म च शरण्यं (संपन्नम्)। तत् (मम) पुण्य-पाप-द्वयं च (अपि) शनैः अस्तं जिगमिषु (भवति), अन्यथा तव चरणयोः भक्ति-श्रद्धे नो भवेताम्।।३३।।

(शब्दार्थ)

(हे दिन पते!) = (हे सूर्य भगवान्!)	**अखिल-** }=(दस) इंद्रियां,
	करण-प्राण-} प्राण तथा
(अहम्)मन्ये = (मैं) मानता हूँ	**वाण्यः** } वाणी आदि
(यत्) = (कि)	**वरेण्याः** = वरणीय बन गये हैं
त्वद्-अभिनवनात् = आपकी स्तुति करने से	**(मम) इदं** = (मेरा) यह
	जन्म = जन्म
मे = मेरे	**च शरण्यं** } = रक्षक बन
संकल्प- } = संकल्प,	**(संपन्नं)** } गया हैं
इच्छा-आदि } इच्छायें, सभी	**तत् (मम)** = वे (मेरे)

पुण्य-पाप } = पुण्य और पाप | **तव** } =आपके
द्वयं च } (रूपी कर्म) भी | **चरणयोः** } चरणोंकी
शनैः अस्तं]= धीरे धीरे | **भक्ति-श्रद्धे** = भक्ति और श्रद्धा
जिगमिषु (भवति)]नष्ट होते हैं | **नो** = नही
अन्यथा = नहीं तो | **भवेताम्** = होती।।३३।।

(अनुवाद)

(हे सूर्य भगवान्!) मेरा विचार है कि आप की स्तुति करने के फल-स्वप मेरे संकल्प, इच्छायें, सभी इन्द्रियां (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय), प्राण और वाणी आदि वरणीय बन गये हैं (अर्थात् लोकानुग्रह करने के साधन बन गये हैं)। (मेरा) यह जन्म (आर्त्तो

३३* ज्ञान-प्राप्ति के समय ज्ञानी के संचित-कर्म आगामि-कर्म स्वयं दग्ध हो जाते हैं, पर फिर भी उसे प्रारब्ध कर्मों को जन्म भर अर्थात् देहान्त तक अवश्य भोगना पड़ता है। इसी लिए कवि ने इस श्लोक में पुण्य-पाप रूपी कर्मों को नष्ट-प्राय ही कहा है, संपूर्ण रूप से इनका नष्ट होना नहीं कहा है।

३३** भक्ति तथा श्रद्धा परमात्मा की अनुग्रह-शक्ति का प्रथम चिह्न हैं। ज्ञानियों का भी कहना है --

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।'

'तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला।।'

अर्थात् परमात्मा के अनुग्रह से ही मनुष्यों के हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है। परमात्मा की अचल भक्ति का हृदय में स्वयं उत्पन्न होना ही उसके अनुग्रह का पहिला तथा मुख्य चिह्न है।

की दुःखनिवृत्ति करने के कारण) रक्षक बन गया है। (इसके अतिरिक्त मेरे) वे (अर्थात् अनेक जन्मों मे किये गये) पुण्य और पाप (रूपी कर्म) भी धीरे धीरे नष्ट होने को हैं। नहीं तो आप के चरणों की भक्ति और श्रद्धा (मुझे प्राप्त) न होती।।३३।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

इत्थमज्ञस्यापि मे त्वदभिनवनाच्चिदात्मत्वदाभिमुख्यप्रवृत्तत्वत् परामर्शात्मस्तुतिवशात्। संकल्पः स्थूलेच्छा। इच्छा संकल्पकारणबूता सूक्ष्मविकल्पपरामर्शात्मा। आदिशब्दात् प्रयत्नः, तदनन्तरमालोचनादानादिप्रवृत्तानि वाग्वर्जान्यखिलानि करणानि सत्सहवृत्तिः प्राणः, सर्वत्रात्र सूक्ष्मपरामर्शरूपतया व्यापकत्वेन स्थिता वाणी चेत्येते मम वरणे परानुग्रहे साधवो वरेण्या जाताः तथेदमिति पश्चिमजन्म शरण्यं शरणे साधु अनुग्राह्यानुग्रहैकपरं सम्पन्नम्। अहं हि सर्वदशासु चिदर्कपरामर्शपरः परानप्यनुगृह्णन्स्थितः। किं च मन्ये स्वानुभवेनैतच्चेतये यत्पुण्यपापद्वयं सुकृतासुकृतजातं सर्वं तदित्यनन्तजन्मार्जितं शनैरस्तं जिगमिषु हिमविलायं विलीयमानं स्थितम्। प्राक्संचितसर्वकर्मणां हि ध्वंसेऽपि देहारम्भककर्मणां ध्वंसोन्मुखत्वाज्जिगमिष्वित्युक्तम्। अन्यथेति। यदि नैवं स्यात् तत्कथं भवच्चरणयोर्भक्तिश्रद्धे भवेताम्। नैव स्याताम्। यदुक्तं नन्दिशिखायाम्--

> **'यदा शिवेऽभिलाषो वै जायते च नृणां सदा।**
> **तदा शिवाभिमानास्ते जायन्ते परमाणवः।।**
> **मुक्तास्तदैव ते दीक्षां प्राप्नुवन्ति गरोस्ततः।।'इति।**

सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-
स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे तदित्थम्।
***त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्यकायोऽप्ययोनिः**
संसाराब्धौ प्लव इव जगत्तारणायस्थिरः स्याम्।।**
।।३४।।

(अन्वय)

(हे भगवन्! इदं) सत्यं (यत्) त्वत्-प्रपन्नेषु जनन-मरणे भूयः न स्तः । तत्रापि (अहं) तव नुति-फलम् एकं जन्म याचे । तत् इत्थं (भवतु - अहं) त्रैलोक्य-ईशः परः शमः इव पुण्य-कायः अपि अयोनिः (सन्) संसार-अब्धौ जगत्-तारणाय स्थिरः प्लवः इव स्याम्।।३४।।

(शब्दार्थ)

(भगवन्!) = (हे भगवन्!)	**तव** = आपकी
(इदम्) = (यह बात)	**नुतिफलं**=स्तुति के फलस्वरूप
सत्यम् = सत्य है	**एकं** = एक और
(यत्) = कि	**जन्म याचे** = जन्म के लिये प्रार्थना करता हूँ।
(त्वत्-प्रपन्नेषु)=आपकी शरण में आये हुओं को	**तत्** = वह (जन्म)
जनन-मरणे=जन्म तथा मरण	**इत्थं** = ऐसा
न स्तः = नहीं होता है ।	**(भवतु-अहं)** = (हो कि मैं)
तत्रापि = तथापि	**त्रैलोक्य-ईशः** = तीनों लोकों का स्वामी
(अहं) = मैं	

परः = सर्व श्रेष्ठ
शमः = शान्ति स्वरूप
पुन्य-कायः=पवित्र शरीर वाला
अपि = और
अयोनिः (सन्) = योनि से न उतपन्न हुआ

संसार-अब्धौ= संसार सागर में
जगत्-तारणाय = जगत को तारने के लिये
स्थिरः प्लव इव = स्थिर नौका के समान
स्याम् = बनूँ।।३४।।

(अनुवाद)

(हे सूर्य भगवान्! यह बात) सत्य है कि आप की शरण में आये हुए (भक्त जन) जन्म-मरण (के चक्कर) से सदा के लिए छूट जाते हैं। (अतः मैं भी आप का भक्त होने से जन्म-मरण के बन्धन से सदा मुक्त हूँ) तथापि मैं आप की स्तुति के फलस्वरूप (आप से) एक और जन्म (की प्राप्ति) के लिये प्रार्थना करता हूँ। वह (जन्म) ऐसा हो कि मैं तीनों लोकों का स्वामी, सर्वश्रेष्ठ, शान्ति स्वरूप, पवित्र शरीर वाला और योनि से न उतपन्न हुआ (अर्थात् इच्छामात्र से ही शरीर धारण करने वाला) होते हुए (इस) संसार रूपी समुद्र में जगत (के प्राणियों) को तारने के लिए एक स्थिर नौका के समान बनूं।।३४।।

३४* उपरोक्त श्लोक में तीनों लोकों का स्वामित्व प्राप्त करने का अभिप्राय यही है कि मैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र बनूं अर्थात् तीनों अवस्थाओं के वैकल्पिक उपद्रवों से सदा के लिये मुक्त हो जाऊँ।

३४**मैं संसार-सागर में डूबे हुए प्राणी-मात्र को पार कराने में पोत का काम करूँ - इस वाक्यावली से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सच्चे भक्त

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे देव, यद्यपि त्वत्प्रपन्नेषु त्वत्समाविष्टेषु संसार-हेतु-सर्ववासनादाहात् भूयो जननमरणे न स्तः, तथापि त्वन्नुतिस्त्वत्स्तुतिरैव फलं यस्य तादृगिदमेकं पश्चिमजन्म याचे। यथा भवदवमर्शात्मिचमतकाराधायि एतन्मागात्। तदित्थ-मनेनैव त्वन्नुतिरसाविष्टेन प्रकारेणास्मिन्नेव देहे परः शम इव शाम्यत्यस्मिन्विश्वमिति व्युत्पत्त्या परः शङ्करात्मस्वभाव इव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तात्मनि त्रैलोक्ये ईशः प्रभुः। न तु परतन्त्रः। अत एव पुण्यो दर्शनस्पर्शनादिना परानुग्राही कायो यस्य तादृक्। अयोनिरिति नित्योदितचिदानन्दैकघनः सन्, जगतो विश्वस्य तारणाय संसाराब्धिमध्ये प्लव इव पोत इव स्थिरः स्यां चिरकालं भूयासम् ।।३४।।

लोकोद्धार करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं, क्योंकि सच्चे भक्त अपने उद्देश्य की पूर्ति के कारण कृतकृत्य बने होते हैं। अतः उन्हें लोकोद्धार करने से भिन्न अपना कोई भी प्रयोजन नहीं होता । विद्वानों ने कहा भी है--

'स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारार्थ्यं प्रति घटयते काञ्चन स्वप्रवृत्तिम् ।
यस्तु धवस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम् ।।'

अर्थात् यद्यपि संसारी मनुष्य प्रत्येक कार्य बड़े प्रयत्न से करते हैं, तो भी वह कार्य स्वार्थ पर ही अवलम्बित होता है। किन्तु जो ज्ञानी परमात्मभाव से परिपूर्ण और संसारिक मलों से रहित होता हैं, उस का मुख्य कार्य लोकानुग्रह ही होता है।

***सौषुम्णेन त्वममृतपथेनैत्य शीतांशुभावं**
पुष्णास्यग्रे सुरनरपितृन् शान्तभाभिः कलाभिः।
पश्चादम्भो विशसि विविधाश्चौषधीस्तद्गतोऽपि
प्रीणास्येवं त्रिभुवनमतस्ते जगन्मित्रतार्क।।३५।।

(अन्वय)

हे अर्क! त्वम् अमृत-पथेन सौषुम्णेन शीतांशुं-भावम् एत्य अग्रे शान्त-भाभिः कलाभिः सुर-नर-पितॄन् पुष्णासि, पश्चात् अम्भः विविधाः औषधीः च विशसि। एवं तद्-गतः अपि त्रिभूवनं प्रीणासि। अतः ते जगत्-मित्रता (युक्ति-युक्ता भवति)।।३५।।

(शब्दार्थ)

अर्क = हे सूर्य!	**पुष्णासि** = पालन-पोषन करते हैं।
त्वं = आप	
अमृत-पथेन } = सुषुम्णा के	**पश्चात्** = उसके बाद
सौषुम्णेन }अमृतमय मार्ग से	**अम्भः** = जल (तथा)
शीतांशु-] = चन्द्र भाव को	**विविधाः** = नाना प्रकार की
भावं एत्य] प्राप्त होकर	**औषधीं च** = औषधियों में
अग्रे = पहले	**विशसि** = प्रविष्ट होते हो
शान्त-भाभिः = शांत बनी हुई किरणों से युक्त	**एवं** = और
	तद्-गतः अपि = एसा करके
कलाभिः = कलाओं से	**त्रिभुवनं** } = (आप) तीनों
सुर-नर-पितॄन् = देवताओं, मनुष्यों तथा पित्तरों का	**प्रीणासि** } लोकों को सुखी बनाते हैं

अतः = इसलिए	**(युक्ति-युक्त)** } = सार्थक
ते = आपकी	**भवति** } होती है।
जगत् मित्रता = जगत मित्रता	।।३५।।

(अनुवाद)

हे सूर्य! आप सुषुम्णा के अमृतमय मार्ग से चन्द्रभाव को प्राप्त होकर पहले शान्त बनी हूई किरणों से युक्त कलाओं से देवताओं, मनुष्यों और पितरों का पालन-पोषन करते हैं। उसके बाद जल तथा नाना प्रकार की औषधियों में प्रविष्ट हो कर तीनों लोकों को

३५* इस स्थल में 'चन्द्रभाव' का तात्पर्य प्राणापानवृत्ति से है। 'देवताओं, मनुष्यों और पितरों', इन शब्दों में क्रम से सात्त्विक, राजस तथा तामस वृत्तियों की ओर संकेत है। 'जल' शब्द से पञ्चमहाभूतों का उपलक्षण होता है। अभिप्राय यह है कि सुषुम्णा नाड़ी से श्वास उत्पन्न होता है, उसे ही चन्द्र भी कहते हैं। प्राण-अपान की संधि को ही शीतल किरणों का नाम दिया जाता है। इसी संधि के द्वारा सात्त्विक, राजस तथा तामसिक वृत्तियों को पुष्टि मिलती है और उस के बाद पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इनमें से जल वर्षाके रूप में औषधियों और वृक्षों आदि वस्तुओं को पुष्ट करके लोगों को सुखी बनाता है। इसी हेतु विद्वानों ने परमात्मा को जो 'जगत्-मित्र' नाम रक्खा है, वह सार्थक ही है।

इसी भान्ति बाह्य सूर्य भी सुषुम्णा मार्ग से अमृतसंक्रमण करने पर चन्द्र-भाव को प्राप्त होता है और फिर चन्द्र की शान्ति-दायिनी अमाकला के द्वारा देवताओं आदि को संतुष्ट करता है। तदनन्तर वर्षा का रूप धारण करके जल में प्रविष्ट हो कर औषधियों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार तीनों लोकों को तृप्त कर के अपनी जगन्मित्रता प्रकट करता है।

सुखी बनाते हैं। उस कारण से आप की जगन्मित्रता स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है। (अर्थात् शास्त्रों में जो 'मित्र' शब्द आप के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ हैं, वह वास्तव में सार्थक ही है) ।।३५।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे अर्क! अतो हेतोस्ते जगतो मित्रता यौगिकमित्रशब्दाभिधेयत्वम्, यतस्त्वं सौषुम्णेन मध्यमेनामृतपथेनाप्यायिना मार्गेण शीतांशुभावमपानचन्द्रत्वम् एत्यागत्य, अग्रे प्रथमं सुरादीन् सर्वान् प्रमातॄन् पुष्णासि लब्धावस्थितीन्करोषि। केन? शान्तभाभिरन्तर्मुखीभावेनोपसंहृतबाह्यप्रथाभिः कलाभिरादिविसर्गान्तस्वाभाविमर्शशक्तिभिः। पश्चादनन्तरमम्भ इति बहिः प्रसरप्रवृत्तान्सर्ववाहान्विशसि स्वामृताच्छरितान्करोषि। विविधाश्चौषधीर्विशसि स्थावरादिसर्वबाह्याभासान् स्वप्रकाशापूरितान् विधत्से। तद्वतो मेयप्रपञ्चात्मतया स्फुरितोऽपि त्रिभुवनं विश्वमेवमिति तदाभासनविमर्शनयुक्त्यैव चन्द्रत्वमेत्य पूर्वोक्तनीत्या सुरादीन्प्रीणासि तर्पयसि। बाह्योऽप्यर्कः सुषुम्णामार्गेणामृतसंक्रमणयुक्त्या चन्द्रत्वमेत्य पूर्वोक्तनीत्या सुरादीन्पुष्णाति। शान्तभाभिर्निवृत्तदीप्तिभिः कलाभिः शक्तिभिरम्भो विशति दक्षिणायने आसाररूपतां स्वीकरोति। ओषधीश्च विशति सरसाः करोति। तद्वतश्च वैश्वदेवयागानुयाग-क्रमेण त्रिभुवनं पुष्णञ्जगन्मित्रत्वमेव दर्शयति।।३५।।

मन्दाक्रान्ते तमसि भवता नाथ दोषावसाने
नान्तर्लीना मम मतिरियं *गाढनिद्रां जहाति।
तस्मादस्तंगमिततमसा पद्मिनीवात्मभासा
सौरीत्येषा दिनकर परं नीयतामाशु बोधम्।।३६।।

(अन्वय)

हे नाथ! हे दिनकर! तमसि मन्द-आक्रान्ते दोष-अवसाने अन्तर्लीना (अपि) इयं मम मतिः गाढ-निद्रां न जहाति। तस्मात् भवता अस्तं-गमित-तमसा आत्म-भासा एषा (मम मतिः) सौरी पद्मिनी इव परं बोधम् आशु नीयताम्।।३६।।

(शब्दार्थ)

हे नाथ! = हे नाथ!	**इथं मम मतिः**=मेरी यह बुद्धि
हे दिनकर! = हे (चित् रूपी) सूर्य भगवान्!	**गाढ-निद्रां** = गाढ-निद्रा को
	न जहाति = नहीं त्यागती।
तमसि = (अज्ञान रूपी) अन्धकार के	**तस्मात्** = इस लिये
	भवता = आप
मन्द- } = मन्द पड़ने	**अस्तं-गमित-**}= अन्धकार
आक्रान्ते } पर,	**तमसात्** } नष्ट करने वाले
दोष-] = (विकल्पों आदि)	**आत्म-भासा**=अपने प्रकाश से
अवसाने] दोषों के नष्ट होने पर	**एषा (मम मतिः)** = इस मेरी बुद्धि को
अन्तर्लीना (अपि) = अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हुई भी	**सौरी पद्मनी-इव** = कमल की तरह खिलने वाले

परं बोधं=सच्चे ब्रह्म ज्ञान से | **नीयताम्** = युक्त कीजिये।
आशु = जल्दी | ।।३६।।

(अनुवाद)

हे (चित् रूपी) सूर्य भगवान्! (अज्ञान रूपी) अन्धकार तथा (विकल्पों आदि) दोषों के नष्ट होने पर अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हुई (भी) मेरी यह बुद्धि (मोह रूपी) गाढ-निद्रा को नहीं त्यागती। इस लिये आप तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले अपने प्रकाश से (अर्थात् आप) की भक्ति करने वाली मेरी इस बुद्धि को शीघ्र ही सच्चे ब्रह्मज्ञान से युक्त कीजिये, जैसे (लाल या नीला) कमल रात की समाप्ति तथा अन्धकार के दूर होने पर (भी) संकुचित ही रहता है और खिलने नहीं पाता, (परन्तु) बाह्य सूर्य अन्धकार को दूर करने वाली अपनी उज्ज्वल किरणों से तत्क्षण ही (अर्थात् उदय करते ही) उसे विकसित करता है।।३६।।

३६* इस श्लोक में यह शंका उठती है कि अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हो कर भी मोह रूपिणी गाढ-निद्रा को न त्यागने से क्या अभिप्राय हैं। इस का समाधान यों किया जा सकता है कि योगी को, समाधि की अवस्था प्राप्त् होने पर भी, उस में से निकलने के उपरान्त, संसारिक विकल्प तब तक बाधित करते ही रहते हैं, जब तक कि व्युत्थान अर्थात् जाग्रत अवस्था में भी समाधि की भान्ति ही परमात्मा के स्वरूप का अनुभव उसे न हो। फिर भला समाधि की अवस्था होते हुए भी उसे मोह आदि विकल्प क्यों न बाधित करें ।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे नाथ दिनकर स्वामिन् चिदर्क, त्वया तमस्यज्ञाने मन्दाक्रान्ते निर्मूलनायाघ्राते सति इयं मदीया मतिर्धी रागद्वेषाणामवसाने जातेऽपि अन्तर्लीनान्तर्मुखीभूतापि गाढनिद्रां त्वदभेदाख्यातिं न हाति। तस्मादेषा त्वया अस्तंगमितं तमो यया तादृश्यात्मभासा स्वदीप्त्या कारणभूतया आश्वविलम्बतमेव परं बोधं प्रशान्ताख्यातिनिजज्योतिरात्मतां नीयतां प्राप्यताम्। सूर्यो देवता यस्याः सा सौरीति कृत्वा पद्मिनीव नलिनीव। सापि त्वया दोषावसाने प्रभाते तमसि मन्दाक्रान्तेऽन्तर्लीना कर्णिकासंश्लिष्टदला गाढनिद्रां न जहातीत्यस्तंगमिततमसा स्वात्मभासा गाढीभूतज्योतिषा प्रबोध्यते त्वया।।३६।।

येन ग्रासीकृतमिव जगत्सर्वमासीत्तदस्तं
***ध्वान्तं नीत्वा पुनरपि विभो तद्दयाघ्रातचित्तः।**
धत्से **नक्तंदिनमपि गती शुक्लकृष्णे विभज्य
त्राता तस्माद्भव परिभवे दुष्कृते मेऽपि भानो।।

(अन्वय) ।।३७।।

हे विभो! येन (ध्वान्तेन) सर्वं जगत् ग्रासी-कृतम् आसीत्, तत् ध्वान्तम् अस्तं नीत्वा, तद्-दया-आघ्रात-चित्तः शुक्ल-कृष्णे गती विभज्य पुनर अपि तत् (अन्धकारात्मकं) नक्तंदिनं धत्से। तस्मात् हे भानो! मे दुष्कृते परिभवे अपि त्राता भव।।३७।।

(शब्दार्थ)

हे विभो! = हे व्यापक प्रभो!
येन = जिस
(ध्वान्तेन) = (अज्ञान रूपी) अन्धकार ने
सर्वं जगत् = सारे संसार को
ग्रासी कृतं आसीत् = ग्रस्त किया है,
तत् ध्वांतं=उस अन्धकार को
अस्तं नीत्वा = नष्ट करके
तद्-दया- आघ्रात् चित्तः }= फिर हृदय में दया करते हुये
शुक्ल-कृष्णे } = शुक्ल-कृष्ण
गति } गतियों का
विभज्य } विभाग करके
पुनर्-अपि = फिर से
तत् (अन्धकारात्मकं) = उस (अन्धकारमय)
नक्तंदिनं } = दिन और रात
धत्से } की पुष्टि करते हैं।
तस्मात् = इस लिये
हे भानो! = हे (चित्त) सूर्य!
मे = मुझे

दुष्कृते } = पाप के | **त्राता भव** = मेरे रक्षक बनें।
परिभवे अपि } क्लेश रूपी फल | ।।३७।।
को दूर करने में भी |

(अनुवाद)

हे व्यापक प्रभो! जिस (अज्ञान रूपी) अन्धकार ने (इस) समस्त संसार को ग्रस्त किया है, उसे (अपने भक्तों पर दयालु होने के कारण) आप नष्ट करते हैं, (और फिर) उसी (अन्धकार) पर हृदय में दया करते हुए शुक्ल-कृष्ण-गतियों का विभाग करके (अन्धकार-मय) दिन-रात की पुनः पुष्टि करते हैं। (चूँकि आप इस तुच्छ अन्धकार पर भी कृपा करते हैं) इस लिए, हे चित्सूर्य! (मुझे

३७* अन्धकार शब्द में भी यहां प्राण-अपान की ओर ही संकेत है। प्राणापान को इसी लिए अन्धकार का नाम दिया गया है कि प्राणापान के होने से ही वैकल्पिक वृत्तियों की पुष्टि होती है।

३७** इस श्लोक में दिन-रात्रि से अभिप्राय प्राण-अपान का है और शुक्लात्मक तथा कृष्णात्मक गति में प्राण-अपान के घटने और बढ़ने की ओर संकेत है। बाहिरी वायु के अन्दर जाने के समय प्राण-कलाएं उसी भान्ति बढ़ती रहती है, जिस भांति शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाएं बढ़ती रहती हैं। इसी प्रकार भीतरी वायु के बाहिर आने के समय प्राण-कलाएं उसी भांति क्षीण होती रहती हैं, जिस भांति कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की कलाएं क्रम-पूर्वक घटती हैं।

अपना भक्त समझ कर, व्युत्थान अर्थात् आत्मस्थिति से अलग होना ही) जो पाप का फल है, उस क्लेश को दूर करने में आप मेरे रक्षक बनें।।३७।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे विभो भानो चिन्मरीचिमालिन्, येन तमसाज्ञेन जगदिदं ग्रासीकृतमासीत्, तदनुगृहीतान्प्रत्यस्तं नीत्वा विनाश्य तद्दया-घ्रातचित्त इव तदनुकम्पयैव शुक्लकृष्णगती विभज्य व्युत्थानावसरे प्राणापानभूमिकामवरुह्य तद्ध्वान्तं पुनरपि धत्से पुष्णासि। निर्व्युत्थानं समाधिं झगिति न वितरसीत्यर्थः। यथा बाह्यो भानुर्ग्रासीकृतजगत्तिमिरं विनाश्य पुनर्दययेव नक्तंदिनं निशादिने विभज्य धत्ते पुष्णातीति श्लेषोपमा। यत एवं दुरात्मनि तमस्यपि त्वमनुकम्पावानिव ततो मे मम परिभवे व्युत्थानात्मनि क्लेशेऽपि त्राता रक्षिता भव।

कीदृशे परिभवे?

दुष्कृते दुष्टं कृतं करणं विषयहानादानादिपरिभवो यत्र। निर्व्युत्थानसमावेशरसास्वादिनं मां कुर्वित्यर्थः।।३७।।

व्युत्थितः समावैशमप्राप्नुवन्व्युत्थानदशानिर्भर्त्सनपरः समावेशपरं भगवन्तं प्रार्थयितुमाह --

आसंसारोपचितसदसत्कर्मबन्धाश्रिताना-
***माधिव्याधिप्रजनमरणक्षुत्पिपासार्दितानाम्।**
मिथ्याज्ञानप्रबलतमसा नाथ चान्धीकृतानां**
त्वं नस्त्राता भव करुणया +यत्र तत्र स्थितानाम्।।
।।३८।।

(अन्वय)

हे नाथ! आ-संसार-उपचित-सत्-असत्-कर्म-बन्ध-आश्रिता-नाम् आधि-व्याधि-प्रजन-मरण-क्षुध्-पिपासा-अर्दितानां मिथ्या-ज्ञान-प्रबुल-तमसा अन्धीकृतानां च यत्र तत्र स्थितानां नः त्वं करुणया त्राता भव।।३८।।

(शब्दार्थ)

नाथ! = हे नाथ!	(और)
आसंसार } =अनादि काल से	**क्षुध-पिपासा**=भूख और प्यास
उपचित }इकट्ठे किये हुये(हम)	**अर्दितानाम्** = (से) व्याकुल बने (हुये हैं)।
सत्-असत् = पुण्य पापात्मक	**(तथा)** = (और)
कर्म-बन्ध = कर्म बन्धनों का	**मिथ्या-ज्ञान** = झूठे ज्ञान रूपी
आश्रितानाम् = आश्रय लेकर	**प्रबल-तमसा**=घने अन्धकार से
आधि-व्याधि=आधि और व्याधि	**अन्धीकृतानां**=अन्धे बने हुए हैं
प्रजन-मरण=जन्म तथा मरण,	

च = इसलिए	**नः** = हम पर
यत्र-तत्र स्थितानां=जहाँ कहीं ठहरे हुये	**त्वं करुणया**=आप दया करके
	त्राता भव=रक्षा करें।।३८।

(अनुवाद)

हे नाथ! हम अनादि-काल से उपार्जित किये हुए पुण्य-पापात्मक कर्म-बन्धनों का आश्रय लेकर आधि, व्याधि, जन्म, मरण तथा भूख-प्यास से आर्त बने हुए हैं। इस के अतिरिक्त हम मिथ्याज्ञान रूपी बड़े घने अन्धकार से अन्धे बने हुए हैं। (अतः हे करुणानिधि!) हम जहां भी कहीं ठहरे हों, वही आप दया कर के हमारी रक्षा करें ।।३८।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

सत्पुण्यम्।असत्पापम्।यत्रतत्रस्थितानामिति देशे, कालेऽवस्थावैचित्र्ये च, त्राता समावेशप्रथनेन रक्षकः। शिष्टं स्पष्टम्।

३८* 'आधि' तथा 'व्याधि' का अर्थ क्रम से मानसिक पीड़ा और शारीरिक पीड़ा है।

३८**अन्धकार की अधिकता से यह अभिप्राय है कि यद्यपि साधनों के द्वारा अन्धकार को नष्ट भी किया जाय, तो भी निर्व्युत्थान समाधि जब तक प्राप्त न हो, तब तक इस अन्धकार की पुनरुत्पत्ति सदा होती ही रहती है।

३८+ 'जहां भी कहीं ठहरे हों', इन शब्दों से लेखक का अभिप्राय यह है कि ईश्वर के स्वरूप का अनुभव करने में उसे देश, काल तथा अन्धकार की अवच्छिन्नता न रहें।

सत्यासत्यस्खलितवचसां *शौचलज्जोज्झिताना-
मज्ञानानामफलसफलप्रार्थनाकातराणाम्।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्तकौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम्।।
।।३९।।

(अन्वय)

(हे अर्क! सत्य-असत्य-स्खलि-वचसां, शौच-लज्जा-उज्झितानाम्, अज्ञानानाम्, अफल-सफल-प्रार्थना-कातराणां, सर्वावस्थासु, अखिल-विषय-अभ्यस्त-कौतूहलानां, भोग-लोल-अर्भकाणां, नः त्वं पितृतया त्राता भव ।।३९।।

(शब्दार्थ)

(हे अर्क!) = (हे भगवान्!)
सत्य- } = सत्य और
असत्य } असत्य
स्खलित] = (बोलने के
वचसां] कारण) भ्रष्ट हुई है हमारी वाणी;
शौच- } = (शारीरीक
लज्जा } तथा मान्सिक)
उज्झितानां } शौच तथा लज्जा से रहित बने हुये हैं,
अज्ञानानाम् = (और) हम अज्ञानी हैं।
अफल- } = हम सफल
सफल } और निष्फल
प्रार्थना- } प्रार्थना करने से
कातरानाम् } अधीर बने हैं।
सर्व-] = सभी (सारी)
अवस्थासु] अवस्थाओं में
अखिल = सभी

विषय- } = विषयों का	बालकों के समान हैं;
अभ्यस्त- } (बार २) चाव	**(अतः)** = (इसलिये)
कौतूहलानाम् } रखते हे।	**नः त्वं** = हम पर आप
भोग-] = विषय भोगों	**पितृतया** = पिता की तरह
लोल-] के लिये उत्सुक	**त्राता भव** = रक्षक बनें।
अर्भकानां] बने हुए चंचल	।।३९।।

(अनुवाद)

हे भगवान! सत्य तथा असत्य बोलने के कारण हमारी वाणी भ्रष्ट हुई है। हम (शारीरिक और मानसिक) शौच तथा लज्ञा से रहित और अज्ञानी हैं। हम सफल और निष्फल प्रार्थना करने के कारण अधीर बने हुये हैं। हम प्रत्येक अवस्था में सभी विषयों (के भोगने) का बार बार चाव रखते हैं। (सच तो यह है कि) हम विषय-सुखों के (उपभोग के) लिए अत्यन्त उत्सुक (होने के कारण) चंचल बालकों के समान हैं। इसलिये आप (कृपा करके) पिता की भांति हमारे रक्षक बनें। (अर्थात् जिस प्रकार बालक के अवगुणों पर पिता ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार आप भी हमारे अवगुणों पर तनिक भी ध्यान न दें, क्योंकि तत्व-दृष्टि से तो आप ही हमारे पिता हैं)।।३९।।

३९*इस श्लोक में लज्ञा से रहित होने का यह अभिप्राय है कि हमें अधर्माचरण में ही लज्ञा होनी चाहिये थी, पर न मालूम हम क्यों उस लज्ञा को तिलाञ्जलि दे बैठे है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

भोगेषु विषयसुखेषु लम्पटानामस्माकमर्भकाणां बालानामिव त्वं पितृतया जनकत्वेन त्राता भवेति प्राग्वत्। त्वं ह्यस्माकं तत्त्वदृष्ट्या जनकः। सत्यासत्येत्युभयत्र समम्। स्खलितं प्रमादि एकत्र, अन्यत्रास्पष्टवर्णत्वम्। एवं शौचं चैत्तं शारीरं च, अफला सफला च या प्रार्थना तथा कातराणामधीराणां। यत्तत्प्रार्थयमानामिति। सुबोधमन्यत् ।।

***यावद्देहं जरयति जरा नान्तकादेत्य दूती**
नो वा भीमस्त्रिफणभुजगाकारदुर्वारपाशः।
गाढं कण्ठे लगति सहसा जीवितं लेलिहान-
स्तावद्भक्ताभयद सदयं श्रेयसे नः प्रसीद।।४०।।

(अनवय)

हे भक्त-अभयद! यावत् अन्तकात् दूती जरा एत्य (मम) देहं न जरयति, यावत् च भीमः त्रि-फण-भुजग-आकार-दुर्वार-पाशः (मम) जीवितं लेलिहानः (सन्) कण्ठे सहसा गाढं न लगति, तावत् (एव) श्रेयसे सदयं नुः प्रसीद ।।४०।।

(शब्दार्थ)

भक्त-अभयद = हे भक्तों को अभय देने वाले!
यावत् = जब तक
अन्तकात् = महाकाल की
दूती = दूतिका
जरा = वृद्धावस्था के रूप में,
एत्य = आकर
(मम्) = (मेरे)
देहं = शरीर को
न जरयति=जर्जरित नही करेगी
यावत् च=जब तक (उसका)
भीमः = भयंकर
त्रि-फण- } = तीन फणों
भुजग- } वाले साँप
आकार } के आकार का
दुर्वार-पाशः = अनिवार्य पाश
(मम) = (मेरे)
जीवितं } = जीवन का
लेलिहान } आस्वाद लेने
(सन्) } के लिये
कण्ठे = कण्ठ में
सहसा = एक बारगी

गाढं न लगति = नहीं पडेगा, | **सदयं** = प्रसन्न होने की
तावत् (एव) = तब तक (मेरे) | **नः** = हम पर
श्रेयसे = कल्याण के लिये | **प्रसीद**=दया करें।।४०।।

(अनुवाद)

हे भक्तों को अभय देने वाले (चित्-सूर्य)! जब तक महाकाल की दूतिका वृद्धावस्था के रूप में आकर (हमारे) शरीर को जर्जरित नहीं करेंगी और जब तक उस का भयंकर, तीन फणों से युक्त सांप के आकार का और अनिवार्य पाश (हमारे) जीवन का आस्वाद लेने के लिए (हमारे) कण्ठ मे एकबारगी नहीं पडेगा, तब तक ही (हमारे) कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न होने की दया करें ।।४०।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भक्ताभयद, यावद्व्युत्थिता मरणावसानां दुर्दशां नाप्नुमस्तावन्नोऽस्माकं प्रसीद देहादिसंस्कारकालुष्यप्रशमनेन निर्मलीभव। निर्व्युत्थानप्रकाशानन्दघनपरमसमावेशामृतरसा-स्वादसुखितानस्मान् संपादयेत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।।

४०*इस श्लोक में चित्सूर्य से प्रार्थना की गई है कि जब तक मृत्यु से होने वाली दुर्दशा को हम प्राप्त न हो जायें, अर्थात् जब तक हम मृत्यु का ग्रास न बनें, तब तक ही वे अपने स्वरूप के प्रकट करने की हम पर दया करें, ताकि हमें मरने का दुःख तनिक भी बाधित न करें।

विश्वप्राणग्रसनरसनाटोपकोपप्रगल्भं
मृत्योर्वक्त्रं दहननयनोद्दामदंष्ट्राकरालम्।
यावद्दृष्ट्वा व्रजति न भिया पञ्चतामेष काय-
***स्तावन्नित्यामृतमय रवे पाहि नः कान्दिशीकान्।।**

(अन्वय) ।।४१।।

हे नित्य-अमृतमय रवे! विश्व-प्राण-ग्रसन-रसन-आटोप-कोप-प्रगल्भं दहन-नयन-उद्दाम-दंष्ट्रा-करालं मृत्योः वक्त्रं दृष्ट्वा एषः कायः यावत् भिया पञ्चतां न व्रजति, तावत् (एव) कान्दिशीकान् नः पाहि ।।

(शब्दार्थ)

हे नित्य } = हे नित्य	**मृत्योः** = महाकाल के
अमृतमय रवे! } अमृतमय सूर्य!	**वक्त्रं दृष्ट्वा**=मुख को देख कर
विश्व-] = जगत् के	**एष काया** = यह(हमारा) शरीर
प्राण-] प्राणों का ग्रास	**यावत्** = जब तक
ग्रसन्] करने वाली	**भिया** = डर के मारे
रसना-आटोप = जिह्वा के	**पञ्चतां** = मृत्यु को
फैलाव से युक्त,	**न व्रजेत्** = प्राप्त न होगा
कोप-प्रगल्भम्=क्रोधसे भरे हुऐ,	**तावत्(एव)**=तब तक ही आप
दहन-नयन-} = (तथा) जलाने	**कान्दिशीकान** = (मृत्यु के
उद्दां } वाले नेत्रों,	डर से) भागते हुये
दंष्ट्रा-] = (और) बडे प्रबल	**नः** = हम लोगों की
करालं]दांतों के कारण भयंकर	**पाहि** = रक्षा करें।।४१।।

(अनुवाद)

हे नित्य-अमृतमय (चित्स्वरूप) सूर्य! जगत के प्राणों का ग्रास करने वाली जिह्वा के फैलाव से युक्त, क्रोध से भरे हुए और जलाने वाले नेत्रों तथा बड़े प्रबल दान्तों के कारण भयंकर, महाकाल के मुख को देख कर यह (हमारा) शरीर जब तक डर के मारे मृत्यु को प्राप्त न होगा, तब तक ही आप (मृत्यु के डर से) भागते हुए हम लोगों की रक्षा करें ।।४१।।

४१*यहां जिस 'नित्य-अमृत' की ओर संकेत किया गया है, वह देवताओं के सामान्य अमृत से बहुत उत्कृष्ट है। स्वर्गादि-लोकों में जो अमृत होता है, उसे खा कर देवता अमर तो बनते हैं, किन्तु उनको यह अमरता चिरस्थायिनी नही होती। कुछ काल के पश्चात् वे इस अमरता से वञ्चित होते हैं और पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फंसते हैं। अतः यह अमृत अनित्य ही कहा जा सकता है। पर परमात्मा का साक्षात्कार होने से आनन्द रूपी जो अमृत प्राप्त होता है, उसका अनुभव करने पर जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा मिलता है। इसी को 'नित्य-अमृत' कहते हैं और इसी लिए परमात्मा को 'नित्य-अमृतमय' कहा गया है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

मृत्योरन्तकस्य वक्त्रं दृष्ट्वा यावदेष काय इति सपुर्यष्टको देहो भिया भीत्या पञ्चतां मृत्यु न व्रजति तावदेव रवे चिदर्क नित्यामृतमय अनस्तमितपरमानन्दैकघनस्वभाव, नोऽस्मान, कान्दिशीकान् व्युत्थाने त्वत्समावेशप्राप्तिं विना कां दिशं कायतः का दिक्का दिगस्माकमिति क्रन्दतः पाहि निर्व्युत्थानसमावेशान् संपादय। कीदृङ् मृत्योर्वक्त्रम्। विश्वेषां प्राणग्रसनो जीवितभक्षको, रसनाटोपो लोलरसनाव्यापारो यस्य तादृशि कोपे प्रगल्भं प्रौढम्। तथा दहनानि प्लोषकाणि नयनानि यस्य तादृक्। तथा उद्दामाभिरूर्जिताभिर्दंष्ट्राभिः करालम्।।४१।।

***शब्दाकारं वियदिव वपुस्ते यजुःसामधाम्नः**
सप्तच्छन्दांस्यपि च तुरगा ऋङ्मयं मण्डलं च।
एवं सर्वश्रुतिमयतया मद्दयानुग्रहाद्वा
क्षिप्रं मत्तः कृपणकरुणाक्रन्दमाकर्णयेमम्।।४२।।

(अन्वय)

(हे भगवन्!) ते युजः-साम-धाम्नः शब्दाकारे वपुः (त्वद्विहारार्थं) वियत् इव (अस्ति)। सप्त छन्दांसि अपि च (ते) तुरगाः। ऋङ्मयं च ते मण्डलम्। एवं सर्व-श्रुतिमयतया, मत्-दया-अनुग्रहात् वा मत्तः इमं कृपण-करुण-आक्रन्दं क्षिप्रम् आकर्णय।।४२।।

(शब्दार्थ)

(हे भगवन्!) = (हे भगवन्!)	**सप्त छन्दांसि** = सात छन्द
ते = आप के लिये	**अपि** = भी
यजुः-साम- }=यजुर्वेदीय तथा	**ते तुरगा** = (आपके) सात
धाम्नः }सामवेदीय तेज का	घोडों के समान हैं
शब्दाकारं] = शब्दमय	**च ते** = और आपका
वपुः] स्वरूप	**ऋङ्मयं** }=ऋग्वेद की ऋचाओं
(त्वद्विहारार्थं) = (आपके	**मण्डलं** } का बना मण्डल
विहार के लिये)	**एवं** = इस प्रकार
वियत इव = आकाश की भांति	**सर्व** } = सभी
(अस्ति) = (है);	**श्रुतिमयतया** } श्रुतियों का
च = और	स्वरूप होने के कारण

मत्- } = मुझपर	**कृपण-** }=क्षुद्र तथा करुण
दयानुग्रहात् } दयालु होकर (मुझ पर अनुग्रह हेतु)	**करुण-आक्रन्दं**} पुकार को
	क्षिप्रं = शीघ्र
मत्तः इमं = मेरी इस	**आकर्णय**=सुन लीजीये।।४२।।

(अनुवाद)

(हे भगवान्!) यजुर्वेदीय तथा सामवेदीय तेज का शब्दमय स्वरूप आप के (विहार के) लिए आकाश की भान्ति (ठहरा हुआ) है। (गायत्री आदि) सात छन्द (आप के) सात घोडों के समान हैं और आप का मण्डल ऋग्वेद की ऋचाओं का बना हुआ है। इस प्रकार सभी श्रुतियों (अर्थात् वेदों) का स्वरूप होने के कारण अथवा मुझ पर दयालु होकर अनुग्रह करने के हेतु मेरी इस क्षुद्र और करुण पुकार को शीघ्र सुन लीजिए।।

४२*यजुर्वेद तथा सामवेद का जो शब्दाकार स्वरूप है, उसकी उपमा आकाश से इस कारण से दी गई है कि आकाश का गुण भी शब्द ही है। इसके अतिरिक्त गायत्री आदि सात छन्दों की उपमा सूर्य के सात घोड़ों से इस लिए दी गई है कि वेद की ऋचाओं के उच्चारण करने की गति उसी प्रकार सात छन्दों से सुगम होती है,जिस प्रकार घोड़ों के शीघ्र चलने से एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचना सुगम हो जाता है। जिस भांति 'प्रभापरिवेश' अर्थात् वर्तुलाकार चिह्न सूर्य देवता की कान्ति के चारों ओर व्याप्त हूआ दिखाई देता हैं, उसी प्रकार ऋग्वेद की ऋचाएं भी समस्त वेदों के तात्पर्य में व्याप्त हैं। अतः ऋग्वेद को ही चित्सूर्य के मण्डल से उपमा दी गई है ।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन्, ते तव निर्णीतदृशा सामवेदात्मकं धाम तेजो यस्य तादृशः। यजुर्वेदात्मकं शब्दाकारं वपुः शरीरं वियदिव व्यापकम्। तदपि शब्दाकारमिति शब्दानाकरोति समस्त-शब्दाश्रयः। अपि च गायत्र्यादि सप्तच्छन्दांसि ते तुरगाः। मण्डलं प्रभापरिवेषोऽपि ऋग्वेदमयः। इत्येवं सर्वश्रुतिमयत्वात्, यद्वा अनुकम्पाप्रधानादनुग्रहान्मत्तो मत्सकाशादुक्तवक्ष्यमाणं- प्राथनापरत्वात् कृपणं विरसं, संसार-विभावकत्वाच्च करुणं करुण-रसप्रधानमिममाक्रन्दं त्वत्प्रसाद-प्रार्थनापरं प्रलपितं, क्षिप्रमुदीरणानन्तरमेवाकर्णय करुणयाऽस्मदनुजिघृक्षयाऽवधारय।।४२।।

नाशं *नास्मच्चरणशरणा यान्त्यपि ग्रस्यमानाः
देवैरित्थं **सितमिव यशो दर्शयन्स्वं त्रिलोक्याम्।
मन्ये सोमं क्षततनुममागर्भवृद्ध्या विवस्व-
ञ्शुक्लच्छायां नयसि शनकैः स्वां सुषुम्णांशुभासा।।
।।४३।।

(अन्वय)

हे विवस्वन्! अस्मत्-चरण-शरणाः देवैः अपि ग्रस्य-मानाः (सन्तः) नाशं न यान्ति-इत्थं स्वं सितं यशः त्रिलोक्यां दर्शयन् क्षत-तनुं सोमम् अमा-गर्भ-वृद्ध्या सुषुम्णा-अंशु-भासा स्वां शुक्लच्छायां शनकैः नयसि-इति (अहं) मन्ये।।४३।।

(शब्दार्थ)

हे विवस्वन्! = हे सूर्यदेव!	**इत्थं स्वं]** = इस तरह से
अस्मत्- } = मेरे चरणों की	**सितं]** अपना यह
चरण } शरण में आये	**यशः]** उज्ज्वल यश
शरणाः } हुए (मेरे भक्त)	**त्रिलोक्यां }** = तीनों लोकों
देवै अपि] = देवताओं आदि	**दर्शयन् }** मे दिखाने
ग्रस्यमानाः] से ग्रसित होने	के लिये
(सन्तः)] पर भी	**क्षत-तनुं }** = क्षीण बने हुए
नाशं न } = नष्ट नही	**सोमं }** चन्द्रमा की
यान्ति } होते हैं	**अमा-गर्भ** = अमा कला को

सुषुम्णा- }	= सुषुम्णा नाड़ी	**शनकै**	= धीरे धीरे
अंशु- }	की किरणों के		(उस चन्द्रमा को)
भासा }	प्रकाश से	**नयसि**	= (पुनः) प्राप्त
वृद्ध्या }	बढ़ा कर		कराते हो।
स्वां]	= अपनीशुक्लपक्ष	**इति (अहं)** }	= एसा मैं
शुक्लच्छायां]	की ज्योति को	**मन्ये** }	समझता हूँ।

(अनुवाद)

हे सूर्य भगवान्! मेरा विचार है कि आप तीनों लोकों में अपने इस उज्ज्वल यश को - कि मेरे चरणों की शरण में आये हुए (मेरे भक्त) देवताओं आदि से ग्रसित होने पर भी नष्ट नहीं होते हैं - दिखाने के लिए (ही) क्षीण बने हुए चन्द्रमा की अमा-कला को सुषुम्णा नाड़ी की किरणों के प्रकाश से बढ़ा कर धीरे-धीरे (उस चन्द्रमा को) अपनी शुक्लपक्ष की ज्योति को (पुनः) प्राप्त कराते हैं।।४३।।

४३*जिस भांति चन्द्रमा की कलायें कृष्णपक्ष में देवताओं आदि से ग्रस्त होती हैं और अमावस्या को वह जन्द्रमा क्षीण बन कर सूर्य देवता की शरण में जाने से, शुक्लपक्ष में अपनी प्यारी कलाओं को प्राप्त करता है, उसी प्रकार श्वास प्राण-वायु बन कर अर्थात् हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक निकलते समय क्रम से इन्द्रियों की वृत्तियों से क्षीण होता हुआ बाह्य-द्वादशान्त पर प्राण-संधि-रूपी सूर्य देवता की शरण में जाता है। तदनन्तर वह (श्वास) अपान-वायु बन कर बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश में प्रवेश करते समय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह हे कि प्राण-वायु उस की संधि के संपर्क से ही बार बार प्रवेश करने और उतरने का सामार्थ्य प्राप्त करता है।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे भगवन् विवस्वन् चिद्भानो, 'अस्मच्चरणशरणा देवैरपि ग्रस्यमाना नाशं न यान्ति' - इत्येवं सितं शुभ्रं, यशस्त्रिलोक्यां दर्शयन्निव, सोमं क्षततनुं देवैरपि ग्रस्तसमस्तकलां, सुषुम्णाख्यमध्यनाड्या अंशवो मरीचयस्तद्भासा दीप्ता हेतुभूतया स्वां शुक्लां च्छायां सम्पूर्णसितां कान्तिं नयसि प्रापयसीति मन्ये जानामि। अत्र रहस्यदृशा देवा इन्द्रियाणि, सोमोऽपानयुक्त्यान्तः प्रविष्ट षोडशकला-रूपात्मा मेयवर्गः, सर्ववाहोल्लासयुक्त्या कलाग्रासेन क्षीण-कलःसन्, सुषुम्णांशुभासा मध्यधामस्फारेणोन्मिषच्छुभाख्यतुर्यप्रकाश-दीप्त्या, अमाया अन्ततुट्यर्धस्फुरच्छक्तेर्गर्भेऽन्तर्या वृद्धिः प्राणादिप्राधान्यनिमेशो- न्मिषच्छाक्तवीर्यभाभिः स्फुरिता, तया शुक्लां चिदेकघनां नयसि प्राप्यसीत्यर्थः।

बाह्यास्तु स्पष्टः।।४३।।

४३**यद्यपि श्वास छोडने के समय प्राण-वायु बाह्य-द्वादशान्त पर पहुंच कर सब प्रकार से नष्ट अर्थात् समाप्त भी हो जाता है, तो भी प्राण-अपान की संधि में स्थित चित्-सूर्य अपने प्रभाव से ही उस श्वास को फिर नव-जीवन प्रदान करता है। इसी प्रभाव की ओर 'शुभ्र-यश' शब्द में संकेत है।

आस्तां जन्मप्रभृति भवतः सेवनं तद्धि लोके
वाच्यं केनापरिमितफलं *भुक्तिमुक्तिप्रकारम्।
ज्योतिर्मात्रं स्मृतिपथमितो जीवितान्तेऽपि भास्व-
न्निर्वाणाय प्रभवसि सतां तेन ते कः समोऽन्यः।।
।।४४।।

(अन्वय)

हे भास्वन्! जन्म-प्रभृति यत् भवतःसेवनं तत् आस्ताम्। हि तत् भुक्ति-मुक्ति-प्रकारम् अपरिमित-फलं लोके केन वाच्यम् (न केनचित् वक्तुं शक्यम्)। (परन्तु) त्वं सतां जीवित-अन्ते अपि ज्योतिः-मात्रं स्मृति-पथम् इतः (येन) निर्वाणाय प्रभवसि तेन ते समः कः अन्यः (अस्ति)।।४४।।

(शब्दार्थ)

हे भास्वन्! = हे सूर्य भगवान्	**अपरिमत** } = असीमित
जन्म-प्रभृति = जन्म से ही	**फलं** } फल से युक्त होता (है)।
यत् भवतः = जो आपका	
सेवनं = भजन करना है।	**लोके** } = इसका वर्णन
तत् आस्ताम् = वह तो रहे।	**केन** } संसार में कौन
हि = क्योंकि	**वाच्यम्** } कर सकता है।
तत् भुक्ति- } = वह भोग और	**(परन्तु)** = (परन्तु)
मुक्ति- } मोक्ष का	**त्वं** = आपकी
प्रकारं } (अमूल्य) साधन	**सतां** = सत्ता को

जीवन्त } = जीवन के	**निर्वाणाय** } = मोक्ष प्रदान
अन्ते } अन्त पर (मरने	**प्रभवसि** } करने में
अपि } के समय) भी	समर्थ होते हैं।
ज्योति-] = (आप) ज्योति	**तेन** = इसलिये
मात्रं] स्वरूप का	**ते** = आपके
स्मृति- } = स्मरण	**समः** = समान
पथं इतः } करते हैं	**कः** = (और) कौन
(येन)=जिस से(आप उन को)	**अन्यः** = दूसरा (सामर्थ्यवान्)
	(अस्ति) = (है)।।४४।।

(अनुवाद)

हे सूर्य भगवान्! भोग और मोक्ष का (अमूल्य) साधन और असीमित फल से युक्त जो जन्म से ही आप का भजन करता है, वह रहे (अर्थात् उस का क्या कहना है), क्योंकि संसार में इसका वर्णन कौन कर सकता है? (इस के प्रत्युत) सत्पुरुष (विघ्नों आदि

४४*जीवन में ही शिव-भाव के प्रकट होने तथा चिदानन्द में प्रवेश करने का आस्वाद लेने के अर्थ में ही भुक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। यहां विषयासक्ति रूपिणी भुक्ति से अभिप्राय नही है। इस के प्रत्युत मुक्ति शब्द में देहान्त के बाद आवागमन के फंदे से छूटने की ओर संकेत है। अतः पाठकजन यहाँ यह अवधारण कर लें कि भुक्ति मुक्ति से किसी प्रकार भी न्यून नहीं है, अर्थात् इन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है ।

से अभिभूत होने के कारण जन्म भर आप का चिंतन न करने पर, जब अपने) जीवन के अन्त पर भी (अर्थात् मृत्यु के समय) आप के ज्योति-स्वरूप का केवल स्मरण करते हैं तो आप उन को भी मोक्ष प्रदान करने में समर्थ होते हैं। इस लिए आप के समान (सामर्थ्यवान) और कौन है?।।४४।।

(राजानकक्षेमराजतकृत व्याख्या)

हे भास्वन्, जन्मप्रभृति यत्त्वत्सेवनं तदपरिमितफलं केन वाच्यं केन वक्तुं शक्यम्-इयत्तया परिच्छेद्यत्वाभावात्।

तद्यस्माद् भुक्ति-मुक्ति-प्रकारं, 'भुक्तिर्विषयोपभोग' एव?

स्वात्मानन्दविश्रान्ति-दत्वेन जीवच्छिवत्वाभिव्यक्तात्मा (व्यक्त्यात्मा) मुक्तिरेव च चिञ्चमत्कारावेशरूपा भुक्तिः, न तु विषयासक्तिरूपा'--तां भुक्तिं मुक्तिं प्रकाशयति सेवकांस्त-न्मयान् संपादयति।

जीवितान्ते निर्वाणावसरेऽपि ज्योतित्मात्रात्मा त्वं सतां स्मृतिपथं प्राप्तो निर्वाणाय मुक्तये प्रभवसि। अतस्ते समः कोऽन्यः -- असामान्यमहिमाऽसीत्यर्थः।।४४।।

अप्रत्यक्ष*त्रिदशभजनाद्यत्परोक्षं फलं त-
त्पुंसां युक्तं भवति हि समं **कारणेनैव कार्यम्।
प्रत्यक्षस्त्वं सकलजगतां यत्समक्षं फलं मे
युष्मद्भक्तेः समुचितमतस्तत्तु याचे यथा+ त्वाम्।।
।।४५।।

(अन्वय)

अप्रत्यक्ष-त्रिदश-भाजनात् पुंसां यत् परोक्षं फलं तत् युक्तम्। (यतः) कारणेन समम् एव हि कार्यं भवति। त्वं सकल-जगतां (मध्ये) प्रत्यक्षः (असि), अतः युष्मद-भक्तेः समुचितं यत् मे समक्षं फलं (स्यात्) तत् तु (अहं) याचे तथा त्वां याचे।।४५।।

(शब्दार्थ)

अपृत्यक्ष- } = अप्रत्यक्ष	**समं एवहि** = अनुसार ही
त्रिदश- } देवताओं का	**कार्यं** = कार्य
भजनात् } भजन करने से	**भवति** = होता है।
पुंसां = मनुष्यों को	**त्वं** = आप
यत् = जो	**सकल जगतां** } = सारे
परोक्षं = परोक्ष	**(मध्ये)** } संसार में
फलं = फल (मिलता है)	**प्रत्यक्षः (असि)**=प्रत्यक्ष (हैं)।
तत् युक्तं = वह युक्ति-युक्त है।	**अतः** = इस कारण
(यतः) = (क्योंकि)	**युष्मद-भक्ते** = आपकी भक्ति
कारणेन् = कारण के	(करने से)

यत् } = जो (प्रत्यक्ष)	**तत् तु(अहं)**=उसीकी मैं बार २
समुचितं } समुचित	**याचे** = याचना करता हूँ
फलं = फल	**यथा** } = जैसे कि मैं
मे समक्षं } = मुझे (प्राप्त हो	**त्वां** } आप की याचना
(स्यात्) } सकता है)	**याचे** } करता हूँ।।४५।।

(अनुवाद)

अप्रत्यक्ष देवलाओं का भजन करने से मनुष्यों को जो परोक्ष फल मिलता है, वह युक्ति-युक्त ही है, क्योंकि (संसार में) कारण के अनुसार ही कार्य होता है। (पर हे भगवान!) आप सारे संसार में (व्यापक होने के कारण) प्रत्यक्ष हैं। अतः आप की भक्ति करने से जो प्रत्यक्ष (और इसी लिए) समुचित फल मुझे

४५* 'त्रिदश' शब्द देवताओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'त्रिदश' उन को कहते हैं जो जीने,बढ़ने और मरने की दशाओं से रहित हों, अर्थात् जिन को ये तीनों दशायें भोगनी न पड़ती हों। इस के अतिरिक्त तेंतीस देवता, बारह सूर्य, ग्यारह रुद्र और आठ वसु भी 'त्रिदश' ही समझे जाते हैं।

४५** मिट्टी घड़े का कारण है और घड़ा उस का कार्य है। कारण बनी हुई मिट्टी घड़े के निर्माण तथा नाश के समय तक अनुगत है। अतः यह स्पष्ट ही है कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है।

४५+ इस श्लोक में 'यथा त्वां' कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे मुझे साकार मूर्तियों में आप की मूर्ति ही अभीष्ट है, वैसे ही आप की भक्ति के ही समुचित फल की प्राप्ति मुझे अभीष्ट है।

(प्राप्त हो सकता है) उसी की मैं बार बार याचना करता हूँ, जैसे कि (मैं) आप (की प्राप्ति) की (याचना करता हूँ)। (फिर भला वह फल मुझे क्यों न प्राप्त होगा)?।।४५।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

अप्रत्यक्षेन्द्रचन्द्रादिदेवताराधनादाराधकानां यत्स्वर्गप्राप्त्यादि परोक्षं कालान्तरे भावि फलं तद्युक्तम् यतो मृद इव मृण्मयो घटः कारणोचितमेव कार्यं भवति।

त्वं तु चिदर्कः सर्वेषां प्रत्यक्षः स्वप्रकाशः - चिदर्कस्वप्रकाशात्मतां विना कस्याप्यप्रकाशादिति।

त्वद्भक्तेर्हेतोर्मम नित्योदितत्वत्समावेशात्मफलं समुचितम्। अतो हेतोस्तत्फलं याचे प्रार्थये।

यथाकृतिमतीषु देवतासु सतीषु त्वामेव याचे तथा विर्व्युत्थानसमावेशात्मैव फलं याचे, न तु मितं किञ्चित्।।४५।।

ये चारोग्यं दिशति भगवान्सेवितोऽप्येवमाहु-
स्ते तत्त्वज्ञा जगति सुभगा *भोगयोगप्रधानाः।
भुक्तेर्मुक्तेरपि च जगतां यच्च पूर्णं सुखानां
तस्यान्योऽर्कादमृतवपुषःको हि नामास्तु दाता।।**
।।४६।।

(अन्वय)

'भगवान् सेवितः (सन्) आरोग्यं दिशति' एवं ये आहुः, ते जगति तत्त्वज्ञाः सुभगाः भोग-योग-प्रधानाः च (सन्ति)। हि जगतां भुक्तेः मुक्तेः अपि च यत् सुखानां पूर्णं तस्य (आरोग्यस्य) दाता अमृत-वपुषः अर्कात् अन्यः कः नाम अस्तु।।४६।।

(शब्दार्थ)

'भगवान् } = 'सेवित्
सेवितः } किया हुआ
(सन्) } परमात्मा
आरोग्यं = आरोग्य को
दिशति' = देता है'
एवं ये } = ऐसा जो लोग
आहुः } कहते हैं
ते जगति = वे लोग संसार में
तत्त्वज्ञाः = तत्त्वज्ञानी,
सुभगाः = ऐश्वर्य सम्पन्न

च = और
भोग- } = भोग तथा
योग } योग को प्रधान
प्रधानाः } मानने वोले
(सन्ति) = (हैं)
हि = क्योंकि
जगतां = संसार में
भुक्तेः मुक्तेः = भोग और मोक्ष
अपि च = तथा
सुखानां = सुखों से

पूर्ण = पूर्ण
तस्य } = उसआरोग्य
(आरोग्यस्य) } को देने
दाता } वाले

अमृत } = अमृतमय स्वरूप
वपुषः } वाले (आप)
अर्कात् = सूर्य भगवान से
कः नाम = भिन्न और कौन
अस्तु = हो सकता है।।४६।।

(अनुवाद)

जो (लोग) कहा करते हैं कि सेवित किया हुआ परमात्मा आरोग्य को देता है, वे (इस) संसार में तत्त्वज्ञानी ऐश्वर्य-संपन्न और भोग तथा योग को मुख्य मानने वाले हैं, क्योंकि (इस) संसार में सुखों से पूर्ण (आरोग्य) तथा भोग और मोक्ष का देने वाला अमृतमय स्वरूप वाले (आप) सूर्य भगवान् से भिन्न और कौन हो सकता है?।।४६।।

४६*यहाँ भोग तथा योग को मुख्य मानने की बात इस लिए कही गई है कि संसारिक जन योगाभ्यास से आरोग्य की इच्छा इस लिए करते हैं कि उन्हें सांसारिक भोगों के भोगने में सुगमता प्राप्त हो।

४६**यहाँ चित् रूपी सूर्य 'अमृतमय स्वरूप वाला' इस लिए कहा गया है कि उस की शक्ति रूपिणी किरणें बाह्य सूर्य की किणों की भांति दाहक अर्थात् जलाने वाली नहीं होती, किन्तु वे आनन्द देने वाली तथा अमृत के समान अमरता प्रदान करने वाली हैं।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

येऽपि च कोचिदविमृष्ट-समावेशात्म-मुख्य-फला--
'भगवान्सेवित आरोग्यं दिशति'--
इत्याहुस्तेऽपि जगति तत्त्वज्ञाश्च सुभगाश्च--
यतो भोग-योग-प्रधाना भोगाय योगाय चारोग्यं वाञ्छन्ति।

युक्तं चैतत्, यतोऽमृतवपुषः परानन्दप्रकाशघनाच्चिदर्कादन्यः को नाम भोग-मोक्षयोः तदाश्रयस्य पूर्णसुखात्मन आरोग्यस्य च दाता? न कश्चित्।

'पूरणगुणसुहितार्थ'-- इति तृप्त्यर्थैः सह षष्ठी समास निषेधाज्ज्ञापकात् 'सुखानां पूर्णम्' इत्यत्र षष्ठी।।४६।।

हित्वा हित्वा गुरुचपलतामप्यनेकान्निजार्था-
न्यैरेकार्थीकृतमिव भवत्सेवनं मत्प्रियार्थम्।
***तेषामिच्छाम्युपकृतिमहं स्वेन्द्रियाणां प्रियाणा-**
****मादौ तस्मान्मम दिनपते! देहि तेभ्यः प्रसादम्।।**
।।४७।।

(अन्वय)

हे दिनपते! यैः (इन्द्रियैः) मत्-प्रियार्थं गुरु-चपलताम् अनेकान् निज-अर्थान् अपि हित्वा हित्वा भवत्-सेवनम् एकार्थीकृतं, तेषां प्रियाणां स्व-इन्द्रियाणाम् अहम् उपकृतिम् इच्छामि। तस्मात् मम आदौ तेभ्यः प्रसादं देहि।।४७।।

(शब्दार्थ)

दिनपते = हे दिन नाथ!
यैः } = जिन
(इन्द्रियैः) } इन्द्रियों ने
मत् } = मेरी भलाई
प्रियार्थं } के लिये
गुरु] = प्रबल
चपलतां] चंचलताओ (तथा)
अनेकान् }= अनेक अनेक
निज अर्थान् } विषयों को
अपि हित्वा] = भी तिलांजली
हित्वा] देकर

भवत्] = आपकी सेवा
सेवनं] (उपासना) को (ही)
एकार्थी } = (अपना)
कृतं } विषय बनाया।
तेषां प्रियाणां = उन्ही प्रिय
स्व इन्द्रियाणां = अपनी इन्द्रियों को
अहं = मैं
अपकृतिं = उपकार
इच्छामि = करना चाहता हूँ।
तस्मात् = इस कारण (आप)

मम आदौ = मेरे से पहले	**प्रसादं** = अनुग्रह
तेभ्यः = इन (इन्द्रियों) पर ही	**देहि** = करें।।४७।।

(अनुवाद)

हे दीननाथ! मेरी प्यारी इन्द्रियों ने मेरी भलाई के लिए (ही) अनेक अनेक विषयों और (अपनी) बड़ी प्रबल चञ्चलता को तिलाञ्जलि देकर आप की उपासना को अपना केवल एक (ही वाञ्छनीय) विषय बनाया है। (अब) मैं (इन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए) इन का उपकार करना चाहता हूँ। अतः आप मुझ से पहले इन (इन्द्रियों) पर ही अनुग्रह करें। (मुझ पर अनुग्रह करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं)।४७।

४७*इस श्लोक में कवि ने अपना उद्धार कराने का एक नया ही मार्ग बतलाया है। वह अपनी इन्द्रियों के बहाने अपना ही उद्धार कराने की प्रार्थना करता है, क्योंकि जब साधक की इन्द्रियां निर्मल बनती है, तो उस की आत्मा स्वयं ही अनुगृहीत होती हैं।

४७**कवि के इस कथन से, कि 'हे प्रभो! मुझ से पहिले मेरी इन्द्रयों पर ही अनुग्रह कीजिये,' यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि जब तक साधक की इन्द्रियां अनुगृहीत अर्थात् शुद्ध न हों, तब तक उस को ईश्वर के अनुग्रह का पात्र बनने का कोई अधिकार ही नहीं होता।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे दिनपते चिद्भानो, यैरिन्द्रियैरन्तर्बहिः करणैर्गुर्वी चपलतां महतीमनवस्थितिं, पुनः पुनः प्रवृत्तामपि तथाऽनेकान्निजार्थान् विषयविश्रान्त्यात्मकानि नाना स्वप्रयोजनानि, हित्वा त्यक्त्वा, भवत्सेवनमन्तर्मुखीभावयुक्त्या त्वत्परिशीलनं, मम प्रियार्थम्, एवैकार्थीकृतमभिनिवेशेनाश्रितम्।

तेषां प्रियाणां स्वेन्द्रियाणामहमुपकारमिच्छामि। तस्मान्ममादौ तेभ्यः प्रसादं देहि मायीय देह परिहारेण निजमरीचिचक्रात्मतां प्रकटयेत्यर्थः।।४७।।

किं तन्नामोच्चरति वचनं यस्य नोच्चारकस्त्वं
किं तद्वाच्यं सकलवचसां *विश्वमूर्ते! न यत्त्वम्।
तस्मादुक्तं यदपि तदपि त्वन्नुतौ भक्तियोगा-
दस्माभिस्तद्भवतु भगवंस्त्वत्प्रसादेन धन्यम्।।
।।४८।।

(अन्वय)

हे विश्वमूर्ते! (अस्मिन् जगति) तत् किं नाम वचनम् उच्चरति यस्य उच्चारकः त्वं न (असि), (एवं) सकल-वचसां तत् किं वाच्यं यत् त्वं न (असि)। तस्मात् हे भगवन्! त्वत्-नुतौ भक्ति-योगात् यत्-अपि तत्-अपि अस्माभिः उक्तं तत् त्वत्-प्रसादेन धन्यं भवतु।।

(शब्दार्थ)

विश्वमूर्ते! = हे विश्वमूर्ति प्रभो!
(अस्मिन् जगति) = इस संसार में
तत् किं = वह कौनसा
वचनम् = वचन
उच्चरति = बोला जाता है,
यस्य = जिसका
उच्चारकः = उच्चारण
त्वं न } = आप
(असि) } नही करते।

(एवं) = (और)
सकल-वचसां=सभी वचनों में
तत् किं] = वह कौन
वाच्यं] सी बात है
यत् } = जो आप के
त्वं न } स्वरूप से भिन्न हैं।
तस्मात् = इसलिये
हे भगवन्! = हे परमात्मा!
त्वत् = आपकी
नुतौ = स्तुति करने में

भक्ति-योगात् = प्रेम-वश	**अस्माभिः उक्तं** } कहा हुआ
यत्-अपि = जो कुच्छ भी (कहा है)	**त्वत्-प्रसादेन**=आपकी दया से
	धन्यं = कल्याण कारी
तत्-अपि } = वह हम से	**भवतु** = बने।।४८।।

(अनुवाद)

हे विभ्व-मूर्ति प्रभो! (इस संसार में) वह कौन सा वचन बोला जाता है, जिसका उच्चारण आप नहीं करते हैं (और) सभी वचनों में कही हुई वह कौन सी बात (या कौन सा विषय) है जो आप के स्वरूप से भिन्न है? (अभिप्राय यह है कि ईश्वर ही स्वयं कर्ता और कर्म के रूप में ठहरे हुए हैं।) अतः हे भगवान! मैने आप की स्तुति करने में प्रेम-वश जो कुछ भी कहा है, वह (असमञ्जस होते हुए भी आप के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण अवश्य) आप की दया से (हमारे लिए) कल्याणकारी बने।।४८।।

४८*इस श्लोक के पूर्वार्ध मे परमात्मा में वाच्य और वाचक होने का जो गुण आरोपित किया गया है, उस का संबोधन के रूप में प्रत्युक्त हुए उस के 'विश्वमूर्ति' नाम के साथ हेतुहेतुमद्भाव का संबन्ध है । अभिप्राय यह है कि चूंकि परमात्मा विश्वमूर्ति है, इस लिए वे वाच्य और वाचक दोनों के रूप में ठहरे हुए हैं।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

हे विश्वमूर्ते अनवच्छिन्न, त्वन्नुतिविषये इदन्तावच्छेदप्रधानतया असमञ्जसप्रायं किमप्यस्माभिस्त्वद्भक्तित उक्तं तद्विश्वस्य वाच्यवाचकात्मनस्तव प्रसादादन्तर्नैर्मल्यप्राप्तेर्धन्यमस्तु त्वद्रूपतयैव स्फुरतु।।४८।।

***या पन्थानं दिशति शिशिराद्युत्तरं देवयानं**
या वा कृष्णं पितृपथमथो दक्षिणं प्रावृडाद्यम्।
ताभ्यामन्या विषुवदभिजिन्मध्यमा **कृत्यशून्या
धन्या काचित्प्रकृतिपुरुषावन्तरा मेऽस्तु वृत्तिः।।

(अन्वय) ।।४९।।

या (प्राण-वृत्तिः) शिशर-आदि-उत्तरं देव-यानं पन्थानं दिशति, अथवा या (अपान-वृत्तिः) कृष्णं प्रावृट्-आद्यं दक्षिणं पितृ-पथं (दिशति), ताभ्याम् अन्या विषुवत्-अभिजित् (रूपा) धन्या कृत्य-शून्या प्रकृति-पुरुषौ-अन्तरा काचित् मध्यमा वृत्तिः मे अस्तु।।

(शब्दार्थ)

या = जो
(प्राण-वृत्तिः) = (प्राण-वृत्ति)
शिशिर- } = शिशिर आदि
आदि } ऋतु संबन्धी
उत्तरं]= देवयान नामक
देवयान्] उत्तरायण
पंथानम् = मार्ग को
दिशति = दिखाती है।
अथवा या = और जो
(अपान- } = (अपान
वृत्तिः) } वृत्ति)
कृष्णं } = बरसात आदि
प्रावृट-} ऋतु संबन्धी
आद्यं } कृष्ण (और)
दक्षिणं] = पितृयान नामक
पितृपक्षं] दक्षिणायन मार्ग
(दिशति) = (दर्शाती है)।
ताभ्यां = उन दोनों(वृत्तियों) से
अन्या = भिन्न जो
विषुवत्-] = विषुवत् और
अभिजितं] अभिजित्
(रूपा)] (कही जाने वाली)

कृत्य-	} = कर्तव्यों से	**काचित्**= जो कोई(अलौकिक)
शून्या,	} रहित, और	**मध्यमा** } = मध्यमा
धन्या	} प्रशंसनीय	**वृत्तिः** } वृत्ति है,
प्रकृति-]	= प्रकृति-	**मे अस्तु** = वही मुझे
पुरुषौ-]	पुरुष के मध्य	प्राप्त हो।।४९।।
अन्तरा]	में (ठहरी हुई)	

(अनुवाद)

जो (प्राण-वृत्ति) शिशिर आदि ऋतु (अर्थात् शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म) संबन्धी, देवयान नामक उत्तरायण मार्ग को दिखाती है और जो (अपान-वृत्ति) बरसात आदि ऋतु (अर्थात् बरसात, शरद और हेमन्त) संबन्धी,कृष्ण और पितृयान नामक दक्षिणायन मार्ग को सूचित करती है,उन दोनों (वृत्तियों) से भिन्न जो 'विषुवत्' और 'अभिजित्' (कही जाने वाली), कर्तव्यों से रहित, प्रशंसनीय (या पुण्य-शीला)और(प्राण-अपान रूपी) प्रकृति-पुरुष के मध्य में ठहरी हुई (भी प्राण-अपान से मुक्त, उन्मना नामक) कोई अलौकिक मध्यमा वृत्ति है, वही मुझे (सदा के लिए) प्राप्त हो।।४९।।

४९*सताईसवें श्लोक की टिप्पणी से पाठकों को विदित ही हुआ होगा कि प्राण-वायु अर्थात् हृदय से निकलते हुये श्वास का सञ्चारणकाल छत्तीस अङ्गुलों का होता है और उसी भांति बाह्य-द्वादशान्त से भीतर को प्रवेश करते समय अपान-वायु का सञ्चार-काल भी छत्तीस अङ्गुलों का होता है। इन्हीं छत्तीस अङ्गुलों के आधार पर '**तन्त्रालोक**' आदि बड़े बड़े शास्त्रो में श्वास के एक ही सञ्चारण-काल में एक संपूर्ण वर्ष-संबन्धी काल का अनुभव करने के लिए उत्तरायण तथा दक्षिणायन का मार्ग

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

प्रकृतिपुरुषौ वामदक्षिणवाहौ, अन्तरा तन्मध्ये, काचिदसामान्या, धन्या संपन्मयी, मे वृत्तिः स्थितिरस्तु। कीदृशी? विषुं व्याप्तिमर्हतीति विषुवत्, अभिजयति द्वैतप्रशमनात् सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यभिजित्, सर्वमध्यवर्तित्वान्मध्यमा, स्वानन्दविश्रान्तिसारत्वात् कृत्यैः सौम्यक्रूरादिभिः कार्यै शून्या। तथा देवप्रीतिकारित्वाद्देवयानंहृदो द्वादशान्तं यावत् प्रसरणरूपं शिशिरवसन्त-ग्रीष्म-स्वभावमुत्तरपन्थानमुत्तरायणं या प्राणाख्या वृत्तिर्दिशति प्रथयति। या वा अपानाख्या वृत्तिर्द्वादशान्ताद्धृत्प्रवेशरूपा प्रावृट्-शरत्-हेमंत-रूपं-दक्षिणं पन्थानं दक्षिणायनं, भोगप्रद-त्वात्कृष्णं, पितृप्रीति हेतुत्वात्पितृपथं दिशति। ताभ्यामन्या व्यतिरिक्ता जीवन्मुक्तिप्रदा, उन्मनाख्येत्यर्थः। षट्त्रिंशदङ्गुले ऽङ्गुलषट्के हृदः प्रभृति मकरादिराश्युदय इत्यर्थः श्रीस्वच्छन्दादिशास्त्रेष्वस्ति।।४९।।

दिखाया गया है। उत्तरायण के छः मासों में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं का समावेश होता है और दक्षिणायन के शेष छः मासों में बरसात, शरद, तथा हेमन्त इन तीन ऋतुओं का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त 'विषुवत्' तथा 'अभिजित्' आदि महापवित्र पर्वों का वर्णन किया गया है, जिनका अनुभव करने से योगी समस्त सांसारिक सुखदुःखादि द्वन्द्वों से छूट जाता है।

४९**'विषुवत्' और 'अभिजित्' नाम वाली मध्यमा वृत्ति को 'कृत्य-शून्य' अर्थात् कर्तव्यों से रहित इसलिए कहा गया है कि इस में प्राण-अपान की गति का अस्तित्व ही नहीं रहता।

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्सेतुबन्धस्य मध्ये
प्राप्योपेयं ध्रुवपदमथो* व्यक्तमुद्घाल्य तालु।
सत्यादूर्ध्वं किमपि परमं व्योम +सोमाग्निशून्यं
गच्छेयं त्वां सुरपितृगती चान्तरा ब्रह्मभूतः।।५०।।

(अन्वय)

अहं किञ्चित् (संकल्प-संस्कारात्मकं) मनः पिबन इव (सन्) सेतु-बन्धस्य मध्ये स्थित्वा, उपेयं ध्रुव-पदं प्राप्य, अथ तालु व्यक्तम् उद्घाल्य, सुर-पितृ-गती अन्तर आ च ब्रह्म-भूतः (सन्) सत्यात् ऊर्ध्वं सोम-अग्नि-शून्यं किम्-अपि परमं व्योम त्वां गच्छेयम्।।५०।।

(शब्दार्थ)

अहं = मैं
किञ्चित् } = मन (के
(संकल्प- } अवशिष्ट
संस्कारात्मकं) } संकल्प-रूपी
मनः } संस्कार) को
पिबन् इव (सन्)= लय करके
सेतु- } = (प्राण-अपान के
बन्धस्य } मध्य में होने वाले)
मध्ये } पुल पर
स्थित्वा = ठहर कर

उपेयं } = उपेय
ध्रुव-पदं } ध्रुव-पदवी को
प्राप्य = प्राप्त करके
अथ } = तथा तालु में स्थित
तालु } लम्बिका चतुष्पथ
व्यक्तं } को खोल कर
च = और
सुर-पितृ-] = देवयान तथा
गती] पितृयान के
अन्तरा = आन्तरिक आधारभूत

ब्रह्म- } = ब्रह्मका	**अग्नि-**] अपान रूपी) सोम
भूतः } साक्षात्कार	**शून्यं**] और अग्नि से शून्य
(सन्) } प्राप्त कर सकूं	**किं-अपि** } = चिदाकाश
च = और	**परमं व्योम** } मे ठहरे
सत्यान् } = सत्य से भी	**त्वां** = तेरे (अलौकिक स्वरूप)
ऊर्ध्वं } उत्कृष्ट	**गच्छेयम्** = (को) प्राप्त
सोम-] = (प्राण और	करूं।।५०।।

(अनुवाद)

मैं मन (के अवशिष्ट संकल्प-रूपी संसकार) को लय करके (प्राण-अपान के मध्य में होने वाले) सेतुबन्ध (अर्थात् पुल) पर ठहरूं, उपेय ध्रुव पदवी को प्राप्त करके तथा तालु (में स्थित लम्बिका चतुष्पथ) को काट कर (अर्थात् खोल कर) देवयान तथा पितृयान के आन्तरिक आधारभूत ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करूँ और सत्य से भी उत्कृष्ट, (प्राण-अपान रूपी) सोम और अग्निसे शून्य तथा चिदाकाश में स्थित तेरे अलौकिक स्वरूप को प्राप्त करूँ।।५०।।

५०*इस श्लोक में तालु के मध्य में स्थित लम्बिका-स्थान के वर्णन की और संकेत किया गया है। इस के विषय में अनुभव के आधार पर कुछ विचार प्रकट किये जाते है --

जिस समय निर्विकल्पता के कारण योगी के प्राणों की गति सूक्ष्म होती है, उसी समय तुरीय अवस्था को प्राप्त करके तालु में स्थित 'लम्बिका चतुष्पथ' का वह अनुभव करता है। 'लम्बिका' को 'चतुष्पथ'

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

सुरपितृगती अन्तरा ऊर्ध्वाधः प्रवेशात्मनिर्णीत देवपितृमार्गयोर्मध्ये, चकारात् सर्ववाहानामप्यन्तः, ब्रह्मभूतोऽन- वच्छिन्नतां प्राप्तः, त्वां गच्छेयं परतत्त्वात्मचिदर्करूपः स्याम्।

कीदृशं त्वाम्?

सत्याद्विश्वसत्ताप्रदात् सामरस्याद् धाम्न ऊर्ध्वमु- त्कृष्टं प्रकाशानन्दैकघनं, किमपि परमं व्योमेत्यनुत्तरचिदाकाश- रूपं, सोमाग्निशून्यं प्रशान्तप्राणापानसंस्कारम्।

किं कृत्वा?

तालुलम्बिकाख्यरौद्रग्रन्थिधामव्यक्तिं कृत्वा-दिव्यकरणबन्धा- श्रयत उद्घाल्य निर्भिद्य, अथो अनन्तरं ध्रुवपदं प्राप्य समस्त

चुराहा इस लिए कहा जाता है कि तालु में चार द्वारहोते हैं। यही चार द्वार चार मार्गों को दिखाते हैं। दो मार्गों से तो सामान्य प्राण-अपान की गति होती है, तीसरे मार्ग से मन्द-योगियों के प्राण-अपान सुषुम्णा-धाम में लय होकर मूलाधार में पहुंचते हैं और षट्-चक्रों का भेदन करके ब्रह्माण्ड को व्याप्त करते हैं, जहाँ वे योगी चिदानन्द का अनुभव करते हैं। इस के प्रत्युत चौथे मार्ग से उत्तम योगियों का प्राण-वायु सीधे ही ब्रह्माण्ड को पहुँचता है और उसे मूलाधार में से गुज़रने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन चार मार्गों का उल्लेख ऊपर हुआ है, उन में से पहिले दो का संबन्ध संसार के साथ है और पिछले दो का संबपन्ध मोक्ष के साथ है।

वेद्याविभाग प्रकाशात्मबिन्दुस्थानमासाद्य, सेतुबन्धस्य मध्य इति निरोधकोर्ध्वशक्त्या तटद्वयान्तर्वाहि प्राणापानाद्युत्तरणोपायनादनादात्मसृष्टिनिरुद्धसमस्तकरन्ध्रमार्गे स्थित्वाऽधिरुह्य, किञ्चिन्मनःपिबन्निव समनान्तसविकल्पकमनःसंसकारं प्रशमयन्।।५०।।

५०**यहाँ 'सोमाग्निशून्य' कहने का यह अभिप्राय है कि जिस समय योगी लम्बिका के द्वार से प्राण-वायु की ऊर्ध्व-शक्ति के द्वारा ब्रह्म-रंध्र को व्याप्त करता है, उस समय उस का प्राण-अपान लय हो जाता है। तदनन्तर ही योगी को अलौकिक स्थिति प्राप्त होती है। यहाँ प्राण-अपान से रहित इसी अलौकिक स्थिति की ओर 'सोम-अग्नि-शून्य' शब्द मे संकेत है।

सर्वात्मत्वं सवितुरिति यो वाङ्मनःकायबुद्ध्या
रागद्वेषोपशमसमतायोगमेवारुरुक्षुः।
धर्माधर्मग्रसनरशनामुक्तये युक्तियुक्तां
स *श्रीसाम्बः स्तुतुमिति रवेः सुप्रशान्तां चकार।।
।।५१।।

(अन्वय)

यः राग-द्वेष-उपशम-समता-योगं सवितुः सर्वात्मत्वम् आरुरुक्षुः (आसीत्), सः श्री-साम्बः धर्म-अधर्म-ग्रसन-रशना-मुक्तये, वाङ्-मनः-काय-बुद्ध्यायुक्ति-युक्तां सुप्रशान्तां रवेः इति स्तुतिं चकार।।५१।।

(शब्दार्थ)

श्री = मोक्षलक्ष्मी से युक्त
यः साम्बः = जो सांब
राग-द्वेष-} = राग-द्वेष की
उपशम- } शान्ति के द्वारा
समता- } साम्य योग
योगं } से संपन्न
सवितुः = सूर्य भगवान् की
सर्वात्मत्वम् = सर्वात्मकता को
अरुरुक्षुः = अवलम्बित करना
(आसीत्) = चाहता था

सः = उसी ने (यह)
धर्म- } = पुण्य-पाप के
अधर्म- } ग्रास रूपी पाश
ग्रसन- } के बन्धन
रशना- } से मुक्त होने
मुक्तये } के लिये
वाङ्-मनः-] = वाणी,
काय] मन, शरीर
बुद्ध्या = (और) बुद्धि से
युक्ति-युक्तां = युक्ति-युक्त(तथा)

सुप्रशान्तां = आत्म-विश्रांति देने वाली | **रवेः** = (चित्) सूर्य की | **स्तुति चकार**=स्तुति रची।५१।।

(अनुवाद)

जो श्री साम्ब राग-द्वेष की शान्ति के द्वारा साम्य-योग से संपन्न सूर्य भगवान् की सर्वात्मकता को अवलम्बित करना चाहता था, उसी ने पुण्य-पाप के ग्रास रूपी पाश के बन्धन से मुक्त होने के लिए वाणी, मन, शरीर और बुद्धि से (चित् रूपी) सूर्य की (यह) युक्ति-युक्त तथा आत्म-विश्रांति देने वाली स्तुति रची।।५१।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

श्रयन्त्येतां योगिन इति श्रीस्तया मोक्षलक्ष्म्या सहितः साम्बो भगवद्वासुदेवसुतः, इत्येवंरूपां, रवेश्चिदर्कस्य, स्तुतिं, स्वप्रशान्ता- मात्मविश्रान्ति परामकरोत्। 'सुप्रतिष्ठाम्' इति वा पाठः।

कीदृशीं स्तुतिम्?

युक्त्या परस्वरूपविश्रान्त्यात्मना योगेन युक्तां-तत्ख्याप- यित्रीमित्यर्थः।

'स' इत्यस्य विषयं दर्शयति - यः सवितुर्विश्वकारणस्य चिद्भानोः, सर्वात्मत्वं वैश्वरूप्यमेव- 'योगमेकत्वमिच्छन्ति

५१*इस श्लोक में साम्ब के साथ जो श्री शब्द का विशेषण रक्खा गया है, उस का अर्थ सांसारिक लक्ष्मी न हो कर मोक्ष-लक्ष्मी ही है ।

वस्तुनोऽन्येन वस्तुना'। इत्याम्नायदृशा, योगं परैक्यमित्युक्तदृशारोढुमिच्छुः स्वीचिकीर्षुः,नत्वन्यत्किञ्चित्।
कीदृशं योगम्?

सर्वदोषमूर्धन्ययो रागद्वेषयोः प्रशमे सति या समता साम्यं तद्रूपम्।
केन?

वाङ्-मनः-कायसहितया बुद्धया। वाचा स्तुतिभिः, मनसोनुसन्धानतः, कायेन कायप्राधान्येन निमज्ञनात्मक प्रणामेन, बुद्ध्याऽध्यवसायेन।

किमर्थमिमां स्तुतिमकरोदित्याह-धर्माधर्माभ्यां यद् ग्रसनमर्थादबुद्धस्य जगतस्तदेव रशनाबन्धनरज्जुस्तस्या मुक्तये। एतत्स्तोत्रपाठावमर्शाभ्यां जना जीवन्मुक्तिमायान्त्वित्याशयादित्यर्थः।।५१।।

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तं
श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम्।
यः सावित्रं पठति नियतं स्वात्मवत्सर्वलोका-
न्पश्यन्सोऽन्ते व्रजति शुकवन्मण्डलं चण्डरश्मेः।।

(अन्वय) ।।५२।।

यः भक्ति-श्रद्धा-आदि-अखिल-तरुणी-वल्लभेन श्रीसाम्बेन उक्तम् इदं प्रकट-गहनम् अध्यात्म-गर्भं सावित्रं स्तोत्रं नियतं पठति, सः स्वात्मवत् सर्व-लोकान् पश्यन् अन्ते शुक-वत् चण्ड-रश्मेः मण्डलं व्रजति ।।५२।।

(शब्दार्थ)

यः = इस (सूर्य के) स्तोत्र को	**गहनं** = (पर) गूढ़ (कठिन)
भक्ति = भक्ति,	**आध्यात्म** } = आध्यात्मिक
श्रद्धा-} = श्रद्धा आदि	**गर्भं** } रहस्य-पूर्ण अर्थों
आदि } रूपिणी	से भरा हुआ है,
अखिल-] = सभी नव-	**सावित्रं**] = इस चित्त सूर्य
तरुणी] युवतियों के	**स्तोत्रं**] सम्बन्धी स्तोत्र का
वल्लभेन = वल्लभ	**नियतं पठति** = नियम पूर्वक
श्री साम्बेन = श्री साम्ब ने	जो पाठ करेगा
उक्तम् = रचा है।	**सः** } = वह स्वात्म
इदं = यह	**स्वात्मवत्** } रूप दिखता
प्रकट = स्पष्ट (सरल)	हुआ

सर्व-लोकान्} = (संसार के) | **चण्ड-रश्मेः** = (चित्र रूपी)
पश्यन् } सब लोगों को | सूर्य के
प्रकट = स्पष्ट (सरल) | **मण्डलं** = आनन्दरूपी
अन्ते } = अन्त में व्यासपूत्र | मण्डल को
शुकवत् } शुकदेव की भांति | **व्रजति** = प्राप्त होगा।।५२।।

(अनुवाद)

इस सूर्य-भगवान् के स्तोत्र को भक्ति और श्रद्धा आदि रूपिणी सभी नवयुवतियों के वल्लभ श्री साम्ब ने रचा है । यह (सामान्य शब्दार्थ के विचार से) स्पष्ट अर्थात् सरल (पर आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से) कठिन तथा आध्यात्मिक रहस्य-पूर्ण अर्थों से भरा हुआ है । जो (मनुष्य) इस का नियम-पूर्वक पाठ करेगा, वह सारे संसार (के लोगों) को स्वात्म-रूप ही देखता हुआ अन्त में (भगवान् व्यास के पुत्र) शुकदेव की तरह (चित् रूपी) सूर्य के (आनन्द रूपी) मण्डल को प्राप्त होगा ।।५२।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

इदमध्यात्मगर्भं क्रोडीकृतरहस्यम्, प्रकटं बाह्यार्थदृशा, गहनं चाध्यात्म (त्मि) कार्थयोगात्, सावित्रं चिद्धानुसम्बन्धि, स्तोत्रं, श्रीसाम्बेनोक्तं, यः कश्चित्, स्वात्मानमिव सर्वलोकान पश्यंश्चिदभेदात्मविश्वं स्तोत्रार्थं भावयन् नियतं निश्चयेन पठति अनवरतं विमृशति, सोऽन्ते चण्डरश्मेर्द्वैत ग्रासिनश्चिदर्कस्य, मण्डलं लीढविश्वसमरसीभूतमरीचिचक्रमेति-तन्मयो जायते।

शुकवद् भगवद्व्याससुतवत्।

कीदृशेन साम्बेन?

भक्ति-श्रद्धे आदी यासां तत्त्वार्थचिन्तादीनां ता एवाखिलास्तरुण्यो नवनवाः सुन्दर्यस्तासां वल्लभेन क्षणमपि परिहर्तुमशक्येन प्रेयसा, न तु रूपलावण्यातिशयमात्रात् समस्तबाह्यरमणीस्पृहणीयेन। इत्यनेन व्यतिरेकलभ्येनार्थेन भगवद्वासुदेवसुतत्वमात्मनः प्रकटयति।।५२।।

उपसंहारभङ्ग्या जनाननुजिघृक्षुराशास्ते-

इति परमरहस्यश्लोकपञ्चाशदेषा
तपननवनपुण्या सागमब्रह्मचर्चा।
हरतु दुरितमस्मद्वर्णिताकर्णिता वो
दिशतु च शुभसिद्धिं *मातृवद्भक्तिभाजाम्।।५३।।

(अन्वय)

इति एषा तपन-नवन-पुण्या स-आगम-ब्रह्म-चर्चा, परम-रहस्य-श्लोक-पञ्चाशत्, अस्मद्-वर्णिता वः आकर्णिता भक्ति-भाजां दुरितं, मातृवत् हरतु, शुभ-सिद्धिं च दिशतु ।।५३।।

(शब्दार्थ)

इति एषा = इस तरह यह	**अस्मद्-**} = मेरे से कहा
तपन- } = सूर्य भगवान् की	**वर्णिता** } गया, तथा
नवन } स्तुति करने	**वः आकर्णित** =आप से श्रवण
पुण्या } से पवित्र (तथा)	किया गया
स-] = आध्यात्मिक	**भक्ति भाजां** = (आप)
आगम-] शास्त्रों और ब्रह्म	भक्तजनों (के)
ब्रह्म] की कथाओं से	**दुरितं** = दुःखों को
चर्चा] भरा हुआ	**मातृवत्** = माता की भांति
परम } = पचास रहस्यपूर्ण	**हरतु** = दूर करे। (तथा)
रहस्य- } श्लोकों (वाला	**शुभ-** } = कल्याण रूपी
श्लोक-पञ्चाशत् } स्तोत्र)	**सिद्धिं च** } श्रेष्ट सिद्धि
	दिशतु = प्रदान करे।।५३।।

(अनुवाद)

मैं ने इन पचास रहस्यपूर्ण श्लोकों (के रूप में) यह स्तोत्र कहा है। यह (चित्स्वरूप) सूर्य भगवान् की स्तुति करने से पवित्र तथा आध्यात्मिक शास्त्रों और ब्रह्म की कथाओं से भरा हुआ है। आप जनों ने इस का श्रवण किया है। यह (आप) भक्तजनों के दुःखों (या पापों) को माता की भान्ति नष्ट करे और कल्याण रूपिणी श्रेष्ठ सिद्धि को प्रदान करे।।५३।।

(राजानकक्षेमराजकृत व्याख्या)

इत्युक्त क्रमान्महारहस्यार्थयुक्ता-"स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्"-इत्यन्तश्लोकानां पञ्चाशदेषा, तपनस्य विश्वविचित्राखण्डितप्रतापस्य भगवतश्चिदर्कस्य नवनेन स्तुत्या पुण्या पवित्रा तथा सागमा विश्वोपनिषद्रूपमाहेश्वरशास्त्रार्थसतत्त्वगर्भा ब्रह्मचर्चा पराद्वयविमर्शो यस्यां तादृशी, अस्मद्वर्णिता सती आकर्णिता, वो युष्माकं सर्वेषां, दुरितं हरतु दुरध्यवसायं च नाशयतु, भक्तिभाजां च शुभसिद्धिं दिशतु अभीष्टां भोग-मोक्ष-लक्ष्मीं घटयताम्।।

५३*माता की भान्ति कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार माता अपने बच्चों के दुःखों का निवारण करने और उन्हें शुभ सिद्धि प्राप्त कराने का सदा प्रयत्न करती है वैसे ही इस स्तोत्र का पाठ या श्रवण भी सभी भक्तजनों के दुःखों को दूर करे और उन्हें शुभ सिद्धि प्रदान करे।

श्रीस्वात्मसंविदभिन्नरूपशिवार्पणमस्तु ।

समाप्तं चेदं साम्बपञ्चाशिकाशास्त्रम् ।।

****

kāvyamālā.

śrīsāmbapraṇītā

sāmbapañcāśikā.

puṣṇan dēvānamṛtavisarairindumāstrāvya samyag-
bhābhiḥ svābhī rasayati rasaṃ yaḥ paraṃ nityamēva .
kṣīṇaṃ kṣīṇaṃ punarapi ca taṃ pūrayatyēvamīdṛg-
dōlālīlōllasitahṛdayaṃ naumi cidbhānumēkam ..

śabdārthatvavivartamānaparamajyōtīrucō gōpatē-
rudgīthō'bhyuditaḥ purō'ruṇatayā yasya trayīmaṇḍalam.
bhāsvadvarṇapadakramēritatamaḥ saptasvarāśvairviya-
dvidyāsyandanamunnayanniva namastasmai parabrahmaṇē..1..
ōmityantarnadati niyataṃ yaḥ pratiprāṇi śabdō
vāṇī yasmātprasarati parā śabdatanmātragarbhā .
prāṇāpānau vahati ca samau yō mithō grāsasaktau
dēhasthaṃ taṃ sapadi paramādityamādyaṃ prapadyē ..2..
yastvakcakṣuḥśravaṇarasanāghrāṇapāṇyaṅghrivāṇī-
pāyūpasthasthitirapi manōbudghyahaṅkāramūrtiḥ .
tiṣṭhatyantarbahirapi jagadbhāsayandvādaśātmā
mārtaṇḍaṃ taṃ sakalakaraṇādhāramēkaṃ prapadyē ..3..
yā sā mitrāvaruṇasadanāduccarantō triṣaṣṭiṃ
varṇānatra prakaṭakaraṇaiḥ prāṇasaṅgātprasūtān .
tāṃ paśyantīṃ prathamamuditāṃ madhyamāṃ budghisaṃsthāṃ
vācaṃ vaktrē karaṇaviśadāṃ vaikharīṃ ca prapadyē ..4..
ūrdhvādhaḥsthānyatanubhuvanānyantarā sanniviṣṭā
nānānāḍiprasavagahanā sarvabhūtāntarasthā .
prāṇāpānagrasananirataiḥ prāpyatē brahmanāḍī
sā naḥ śvētā bhavatu paramādityamūrtiḥ prasannā ..5..

na brahmāṇḍavyavahitapathā nātiśītōṣṇarūpā
nō vā naktandivagamamitātāpanīyāparāhuḥ .
vaikuṇṭhīyā tanuriva ravē rājatē maṇḍalasthā
sā naḥ śvētā bhavatu paramādityamūrtiḥ prasannā ..6..
yatrārūḍhaṃ triguṇavapuṣi brahma tadbindurūpaṃ
yōgīndrāṇāṃ yadapi paramaṃ bhāti nirvāṇamārgaḥ .
trayyādhāraḥ praṇava iti yanmaṇḍalaṃ caṇḍaraśmē-
rantaḥ sūkṣmaṃ bahirapi bṛhanmuktayē'haṃ prapannaḥ..7..
yasminsōmaḥ surapitṛnarairanvahaṃ pīyamānaḥ
kṣīṇaḥ kṣīṇaḥ praviśati yatō vardhatē cāpi bhūyaḥ .
yasminvēdā madhuni saraghākāravadbhānti cāgrē
taccaṇḍāṃśōramitamamṛtaṃ maṇḍalasthaṃ prapadyē ..8..
aindrīmāśāṃ pṛthukavapuṣā pūrayitvā kramēṇa
krāntāḥ sapta prakaṭahariṇā yēna pādēna lōkāḥ .
kṛtvā dhvāntaṃ vigalitabalivyaktipātālalīnaṃ
viśvālōkaḥ sa jayati raviḥ sattvamēvōrdhvaraśmiḥ..9.
dhyātvā brahma prathamamatanu prāṇamūlē nadantaṃ
dṛṣṭvā cāntaḥ praṇavamukharaṃ vyāhṛtīḥ samyaguktvā .
yattadvēdē taditi saviturbrahmaṇōktaṃ varēṇyaṃ
tadbhargākhyaṃ kimapi paramaṃ dhāmagarbhaṃ prapadyē ..10..
tvāṃ stōṣyāmi stutibhiriti mē yastu bhēdagrahō'yaṃ
saivāvidyā tadapi sutarāṃ tadvināśāya yuktaḥ .
staumyēvāhaṃ trividhamuditaṃ sthūlasūkṣmaṃ paraṃ vā
vidyōpāyaḥ para iti budhairgīyatē khalvavidyā ..11..
yō'nādyantō'pyatanuraguṇō'ṇōraṇīyān mahīyān
viśvākāraḥ saguṇa iti vā kalpanākalpitāṅgaḥ.
nānābhūtaprakṛtivikṛtīrdarśayan bhāti yō vā
tasmai tasmai bhavatu paramāditya nityaṃ namastē ..12..

tattvākhyānē tvayi munijanāḥ nēti nēti bruvantaḥ
śrāntāḥ samyak tvamiti na ca tairīdṛśō vēti cōktaḥ.
tasmāttubhyaṃ nama iti vacōmātramēvāsmi vacmi
prāyō yasmātprasaratitarāṃ bhāratī jñānagarbhā ..13..
sarvāṅgīṇaḥ sakalavapuṣāmantarē yō'ntarātmā
tiṣṭhan kāṣṭhē dahana iva nō dṛśyasē yuktiśūnyaiḥ .
yaśca prāṇāraṇiṣu niyatairmathyamānāsu sadbhi-
rdṛśyaṃ jyōtirbhavasi paramāditya tasmai namastē..14..
stōtā stutyaḥ stutiriti bhavānkartṛkarmakriyātmā
krīḍatyēkastava nutividhāvasvatantrastatō'ham .
yadvā vacmi praṇayasubhagaṃ gōpatē tacca tathyaṃ
tvattō hyanyatkimiva jagatāṃ vidyatē tanmṛṣā syāt..15..
jñānaṃ nāntaḥkaraṇarahitaṃ vidyatē'smadvidhānāṃ
tvaṃ cātyantaṃ sakalakaraṇāgōcaratvādacintyaḥ .
dhyānātītastvamiti na vinā bhaktiyōgēna labhya-
stasmādbhaktiṃ śaraṇamamṛtaprāptayē'haṃ prapannaḥ ..16..
sattvōdrēkāttadanu ca rajaḥ karmayōgakramēṇa .
svabhyastā ca prathayatitarāṃ sattvamēva prapannā
nirvāṇāya vrajati śamināṃ tē'rka bhaktistrayīva..17..
tāmāsādya śriyamiva gṛhē kāmadhēnuṃ pravāsē
dhvāntē bhātiṃ dhṛtimiva vanē yōjanē brahmanāḍim .
nāvaṃ cāsminviṣamaviṣayagrāhasaṃsārasindhau
gacchēyaṃ tē paramamamṛtaṃ yanna śītaṃ na cōṣṇam ..18..
agnīṣōmāvakhilajagataḥ kāraṇaṃ tau mayūkhaiḥ
sargādānē sṛjasi bhagavan hrāsavṛddhikramēṇa .
tāvēvāntarviṣuvati samau juhvatāmātmavahnau
dvāvapyastaṃ nayasi yugapanmuktayē bhaktibhājām..19..

sthūlatvaṃ tē prakṛtigahanaṃ naiva lakṣyaṃ hyanantaṃ
sūkṣmatvaṃ vā tadapi sadasadvyaktyabhāvādacintyam .
dhyāyāmītthaṃ kathamaviditaṃ tvāmanādyantamanta-
stasmādarka praṇayini mayi svātmanaiva prasīda..20..
yattadvēdyaṃ kimapi paramaṃ śabdatattvaṃ tvamanta-
statsadvyaktiṃ jigamiṣu śanairlāti mātrākalāḥ khē .
avyaktēna praṇavavapuṣā bindunādōditaṃ sa-
cchabdabrahmōccarati karaṇavyañjitaṃ vācakaṃ tē ..21..
prātaḥ sandhyāruṇakiraṇabhāgṛṅmayaṃ rājasaṃ yan
madhyē cāpi jvaladiva yajuḥ śuklabhāḥ sāttvikaṃ vā .
sāyaṃ sāmāstamitakiraṇaṃ yattamōllāsi rūpaṃ
sāhnaḥ sargasthitilayavidhāvākṛtistē trayīva ..22..
yē pātālōdadhimuninagadvīpalōkādhibīja-
cchandōbhūtasvaramukhanadatsaptasaptiṃ prapannāḥ .
yē caikāśvaṃ niravayavavāgbhāvamātrādhirūḍhaṃ
tē tvāmēva svaraguṇakalāvarjitaṃ yāntyanaśvam..23..
divyaṃ jyōtiḥ salilapavanaiḥ pūrayitvā trilōkī-
mēkībhūtaṃ punarapi ca tatsāramādāya gōbhiḥ .
antarlīnō viśasi vasudhāṃ tadgataḥ sūyasē'nnaṃ
tacca prāṇāṃstvamiti jagatāṃ prāṇabhṛtsūrya ātmā..
agnīṣōmau prakṛtipuruṣau bindunādau ca nityau
prāṇāpānāvapi dinaniśē yē ca satyānṛtē dvē .
dharmādharmau sadasadubhayaṃ yō'ntarāvēśya yōgī
vartētātmanyuparatamatirnirguṇaṃ tvāṃ viśētsaḥ ..25..
garbhādhānaprasavavidhayē śuptayōrindubhāsā
sāpatnyēnābhimukhamiva khē kāntayōrmadhyasaṃsthaḥ .
dyāvāpṛthvyōrvadanakamalē gaumukhairbōdhayitvā
paryāyēṇāpibasi bhagavanṣaḍrasāsvādalōlaḥ ..26..

sōmaṃ pūrṇāmṛtamiva caruṃ tējasā sādhayitvā
kṛtvā tēnānalamukhajagattarpaṇaṃ vaiśvadēvam .
āmāvasyaṃ vighasamiva khē tatkalāśēṣamaśnan
brahmāṇḍāntargṛhapatiriva svātmayāgaṃ karōṣi ..27..
kṛtvā naktandinamiva jagadbījamāvyaktikaṃ ya-
ttatraivāntardinakara tathā brāhmamanyattatō'lpam .
daivaṃ pi-tryaṃ kramaparigataṃ mānuṣaṃ cālpamalpaṃ
kurvankurvankalayasi jagatpañcadhāvartanābhiḥ ..28..
tattvālōkē tapana sudinē yē paraṃ samprabuddhāḥ
yē vā cittōpaśamarajanīyōganidrāmupētāḥ .
tē'hōrātrōparamaparamānandasandhyāsu sauraṃ
bhittvā jyōtiḥ paramaparamaṃ yānti nirvāṇasañjñam..29..
ābrahmēdaṃ navamiva jagajjaṅgamasthāvarāntaṃ
sargē sargē visṛjasi ravē gōbhirudriktasōmaiḥ .
dīptaiḥ pratyāharasi ca layē tadyathāyōni bhūyaḥ
sargāntādau prakaṭavibhavāṃ darśayaṃraśmilīlām..30..
śritvā nityōpacitamucitaṃ brahmatējaḥ prakāśaṃ
rūpaṃ sargasthitilayamucā sarvabhūtēṣu madhyē .
antēvāsiṣviva suguruṇā yaḥ parōkṣaḥ prakṛtyā
pratyakṣō'sau jagati bhavatā darśitaḥ svātmanātmā ..
lōkāḥ sarvē vapuṣi niyataṃ tē sthitāstvaṃ ca tēṣā-
mēkaikasminyugapadaguṇō viśvahētōrguṇīva .
itthambhūtē bhavati bhagavanna tvadanyō'smi satyaṃ
kintu jñastvaṃ paramapuruṣō'haṃ prakṛtyaiva cājñaḥ..32..
saṅkalpēcchādyakhilakaraṇaprāṇavāṇyō varēṇyāḥ
sampannā mē tvadabhinavanājjanma cēdaṃ śaraṇyam .
manyē cāstaṃ jigamiṣu śanaiḥ puṇyapāpadvayaṃ ta-
dbhaktiśradghē tava caraṇayōranyathā nō bhavētām..33..

satyaṃ bhūyō jananamaraṇē tvatprapannēṣu na sta-
statrāpyēkaṃ tava nutiphalaṃ janma yācē tadittham .
trailōkyēśaḥ śama iva paraḥ puṇyakāyō'pyayōniḥ
saṃsārābdhau plava iva jagattāraṇāya sthiraḥ syām.. 34..
sauṣumṇēna tvamamṛtapathēnaitya śītāṃśubhāvaṃ
puṣṇāsyagrē suranarapitṛn śāntabhābhiḥ kalābhiḥ .
paścādambhō viśasi vividhāścauṣadhīstadgatō'pi
prīṇāsyēvaṃ tribhuvanamatastē jaganmitratārka ..35..
mandākrāntē tamasi bhavatā nātha dōṣāvasānē
nāntarlīnā mama matiriyaṃ gāḍhanidrāṃ jahāti .
tasmādastaṅgamitatamasā padminīvātmabhāsā
saurītyēṣā dinakara paraṃ nīyatāmāśu bōdham..36..
yēna grāsīkṛtamiva jagatsarvamāsīttadastaṃ
dhvāntaṃ nītvā punarapi vibhō taddayāghrātacittaḥ .
dhatsē naktandinamapi gatī śuklakṛṣṇē vibhajya
trātā tasmādbhava paribhavē duṣkṛtē mē'pi bhānō..37..
āsaṃsārōpacitasadasatkarmabandhāśritānā-
mādhivyādhiprajanamaraṇakṣutpipāsārditānām .
mithyājñānaprabalatamasā nātha cāndhīkṛtānāṃ
tvaṃ nastrātā bhava karuṇayā yatra tatra sthitānām..38..
satyāsatyaskhalitavacasāṃ śaucalajjōjjhitānā-
majñānānāmaphalasaphalaprārthanākātarāṇām .
sarvāvasthāsvakhilaviṣayābhyastakautūhalānāṃ
tvaṃ nastrātā bhava pitṛtayā bhōgalōlārbhakāṇām..39..
yāvaddēhaṃ jarayati jarā nāntakādētya dūtī
nō vā bhīmastriphaṇabhujagākāradurvārapāśaḥ .
gāḍhaṃ kaṇṭhē lagati sahasā jīvitaṃ lēlihāna-
stāvadbhaktābhayada sadayaṃ śrēyasē naḥ prasīda ..40..

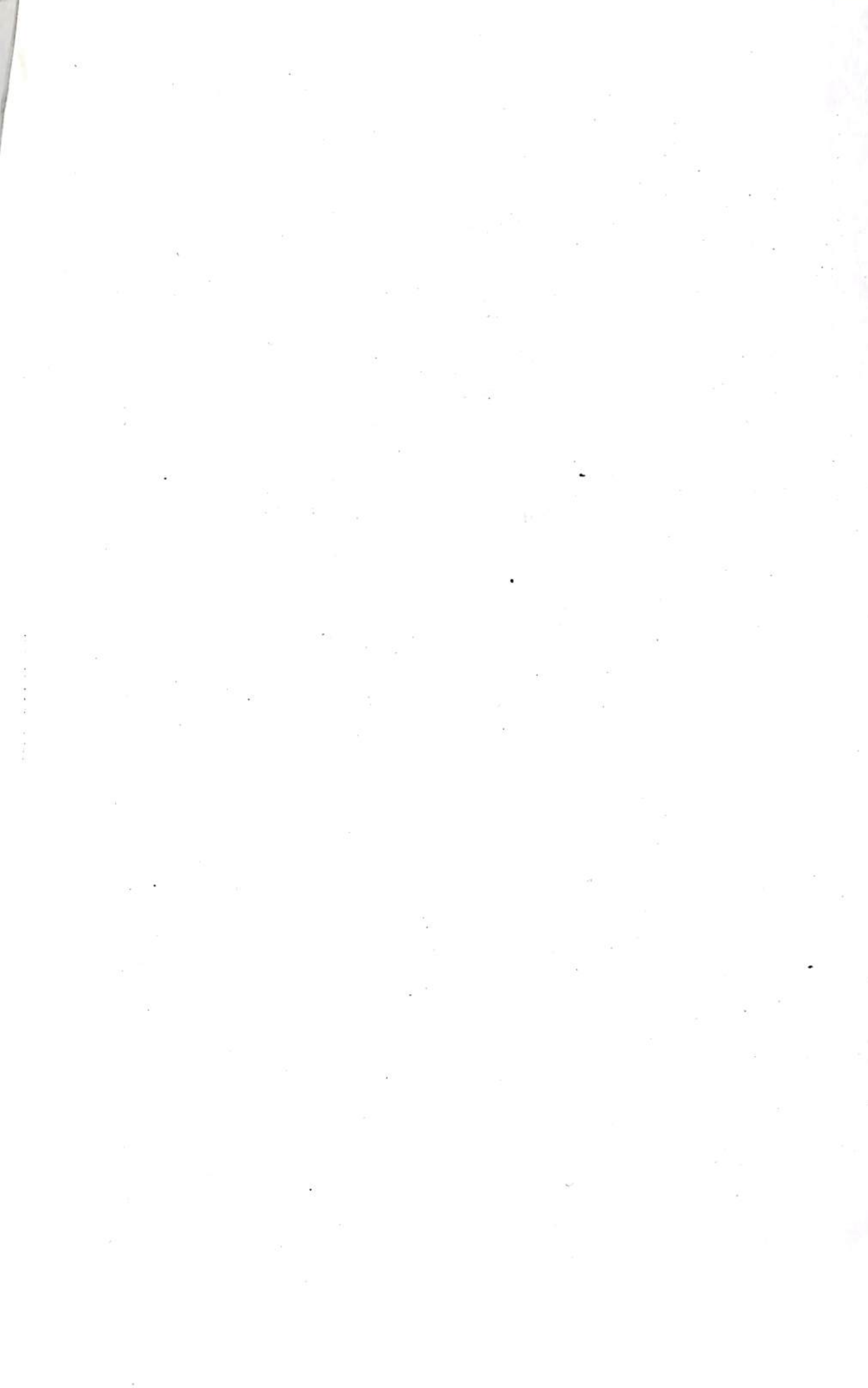
viśvaprāṇagrasanarasanāṭōpakōpapragalbhaṃ
mṛtyōrvaktraṃ dahananayanōddāmadaṃṣṭrākarālam .
yāvaddṛṣṭvā vrajati na bhiyā pañcatāmēṣa kāya-
stāvannityāmṛtamaya ravē pāhi naḥ kāndiśīkān ..41..
śabdākāraṃ viyadiva vapustē yajuḥsāmadhāmnaḥ
saptacchandāṃsyapi ca turagā ṛṅmayaṃ maṇḍalaṃ ca .
ēvaṃ sarvaśrutimayatayā maddayānugrahādvā
kṣipraṃ mattaḥ kṛpaṇakaruṇākrandamākarṇayēmam ..42..
nāśaṃ nāsmaccaraṇaśaraṇā yāntyapi grasyamānāḥ
dēvairitthaṃ sitamiva yaśō darśayansvaṃ trilōkyām .
manyē sōmaṃ kṣatatanumamāgarbhavṛdghyā vivasva-
ñśuklacchāyāṃ nayasi śanakaiḥ svāṃ suṣumṇāṃśubhāsā..43..
āstāṃ janmaprabhṛti bhavataḥ sēvanaṃ tadghi lōkē
vācyaṃ kēnāparimitaphalaṃ bhuktimuktiprakāram .
jyōtirmātraṃ smṛtipathamitō jīvitāntē'pi bhāsva-
nnirvāṇāya prabhavasi satāṃ tēna tē kaḥ samō'nyaḥ..44..
apratyakṣatridaśabhajanādyatparōkṣaṃ phalaṃ ta-
tpuṃsāṃ yuktaṃ bhavati hi samaṃ kāraṇēnaiva kāryam .
pratyakṣastvaṃ sakalajagatāṃ yatsamakṣaṃ phalaṃ mē
yuṣmadbhaktēḥ samucitamatastattu yācē yathā+ tvām..45..
yē cārōgyaṃ diśati bhagavānsēvitō'pyēvamāhu-
stē tattvajñā jagati subhagā bhōgayōgapradhānāḥ .
bhuktērmuktērapi ca jagatāṃ yacca pūrṇaṃ sukhānāṃ
tasyānyō'rkādamṛtavapuṣaḥ kō hi nāmāstu dātā..46..
hitvā hitvā gurucapalatāmapyanēkānnijārthā-
nyairēkārthīkṛtamiva bhavatsēvanaṃ matpriyārtham .
tēṣāmicchāmyupakṛtimahaṃ svēndriyāṇāṃ priyāṇā-
mādau tasmānmama dinapatē! dēhi tēbhyaḥ prasādam..47..

kiṃ tannāmōccarati vacanaṃ yasya nōccārakastvaṃ
kiṃ tadvācyaṃ sakalavacasāṃ viśvamūrtē! na yattvam .
tasmāduktaṃ yadapi tadapi tvannutau bhaktiyōgā-
dasmābhistadbhavatu bhagavaṃstvatprasādēna dhanyam..48..
yā panthānaṃ diśati śiśirādyuttaraṃ dēvayānaṃ
yā vā kṛṣṇaṃ pitṛpathamathō dakṣiṇaṃ prāvṛḍādyam .
tābhyāmanyā viṣuvadabhijinmadhyamā kṛtyaśūnyā
dhanyā kācitprakṛtipuruṣāvantarā mē'stu vṛttiḥ..49..
sthitvā kiñcinmana iva pibansētubandhasya madhyē
prāpyōpēyaṃ dhruvapadamathō vyaktamuddālya tālu .
satyādūrdhvaṃ kimapi paramaṃ vyōma sōmāgniśūnyaṃ
gacchēyaṃ tvāṃ surapitṛgatī cāntarā brahmabhūtaḥ ..50..
sarvātmatvaṃ savituriti yō vāṅmanaḥkāyabudghyā
rāgadvēṣōpaśamasamatāyōgamēvāruruksuḥ .
dharmādharmagrasanaraśanāmuktayē yuktiyuktāṃ
sa śrīsāmbaḥ stutumiti ravēḥ supraśāntāṃ cakāra..51..
bhaktiśradghādyakhilataruṇīvallabhēnēdamuktaṃ
śrīsāmbēna prakaṭagahanaṃ stōtramadhyātmagarbham .
yaḥ sāvitraṃ paṭhati niyataṃ svātmavatsarvalōkā-
npaśyansō'ntē vrajati śukavanmaṇḍalaṃ caṇḍaraśmēḥ..52..
iti paramarahasyaślōkapañcāśadēṣā
tapananavanapuṇyā sāgamabrahmacarcā .
haratu duritamasmadvarṇitākarṇitā vō
diśatu ca śubhasiddhiṃ mātṛvadbhaktibhājām ..53..

*****

śrīsvātmasaṃvidabhinnarūpaśivārpaṇamastu .
samāptaṃ cēdaṃ sāmbapañcāśikāśāstram ..

****



ईश्वर आश्रम ट्रस्ट